कहानी-एक कला

लेखक
श्री गिरिधारीलाल शर्मा 'गर्ग'
बी० ए०, (ऑनर्स), पी० जी० स्कॉलर

प्रकाशक
ग्र न्थ मा ला - का र्या ल य,
बाँ की पु र

श्रद्धेय आचार्य्य को

लेखक

दो शब्द

इण्टर-मीडियेट में कहानी-कला के संबंध में अध्ययन करने का मौका मिला। बहुत-सी अँगरेजी तथा हिन्दी की पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं को इसी सिलसिले में उलटा-पलटा, कुछ नोट्स भी लिये; अन्त में इतनी सामग्री एकत्रित हो गई कि उसे पुस्तक-रूप देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सका। फल-स्वरूप भली-बुरी, जैसी भी हो सकी, पुस्तक प्रस्तुत है।

पुस्तक में शायद कहीं-कहीं पर पाठकों को पुनरुक्ति दोष दिखाई पड़े। लेकिन, वैसा जान-बूझकर किया गया है। विषय को स्पष्ट करने के लिये इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग भी तो नहीं था।

अन्त में मैं पूज्यभाई हंसकुमारजी तिवारी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकता, जिनके बिना इस पुस्तक का इस रूप में निकलना असंभव ही होता। एतदर्थ मैं उनका चिर-आभारी हूँ।

'ज्योति-गृह', पटना-सिटी
रथयात्रा, '४८

गिरिधारीलाल शर्मा 'गर्ग'

विषय-क्रम

विषय		पृष्ठ
१. कहानी क्या है ?	...	३
२. कहानी के उपकरण	...	२०
३. कहानी के मुख्य अंग	...	४०
४. चरित्र-चित्रण	...	५७
५. लेखन-पद्धति	...	७७
६. शैली और आकार	...	६१
७ कहानी का उद्देश्य	...	१०३
८ कहानी सुन्दर कैसे हो ?	...	१२४
६. यथार्थवाद	...	१३३
परिशिष्ट		
१०. हिन्दी-कथा साहित्य की प्रगति		१४६

"नदी जैसे जल-स्रोत की धारा है, मनुष्य वैसे ही कहानी का प्रवाह।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कहानी—एक कला

को फिर नाहक की गुत्थियाँ सुलझाने में वह नहीं खपा देना चाहती। उसे तो हल्के साहित्य की जरूरत महसूस होती है और उसकी यह दिमागी खुराक जुगाती है कहानी। इसीलिये, साहित्य में कहानी का अपना अलग स्थान है। संसार के सारे उन्नतिशील राष्ट्रों की भाषा एवं साहित्य का भाण्डार कलापूर्ण कहानियों से भरा-पूरा दीखता है। चाहे किसी भी प्रगतिशील साहित्य पर निगाह दौड़ायी जाय, कहानी की उन्नति धड़ल्ले से होती पायी जायगी।

मनुष्यों की अभिज्ञताओं की पूँजी प्रतिदिन बढ़ती रहती है। जो प्रतिभावान् हैं, वे अपने अनुभव तीव्र कल्पना के सहारे किसी न किसी मोहक-रूप मे संसार के सामने रखते हैं। ऐसे ही रूपों में एक कहानी भी है। कहानी मानवीय अनुभवों और कल्पनाओं का सम्मिश्रण है। कहानी की कथा-वस्तु, पात्र, चरित्र और उसके चरित्रों के मानसिक घात-प्रतिघातों का सरल-रोचक वर्णन पाठकों को कविता से कहीं अधिक प्रभावित करता है। कहानी की सरलता ही इसकी बड़ी विशेषता है, जो सुगमता से लोकरुचि को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। कहानी और कविता का उद्गम स्थान भी एक ही है।

कल्पना और भाव का सम्मोहक सामंजस्य होने ही के कारण साहित्यकारों का झुकाव कथा-सृष्टि की ओर विशेष रूप से है। बात यह है कि साहित्य की भित्ति-रचना भाव पर ही होती है। भाव की वस्तु हमें नित्य प्रति नई-नई भावनाओं के रूप दिखाती

है। वह न तो पुरानी पड़ती है और न मलिन ही होती है। वह खरे सोने-सी रोज-रोज निखरती ही रहती है। तज्जनित आनन्द प्रस्रवण का वेग कभी धीमा नहीं पड़ सकता; क्योंकि भाव में एक ऐसी ही खूबी है कि लोकरुचि को कभी भी अपनी ओर से ऊबने नहीं देता। लोगों को कभी ऐसा मालूम नहीं होता कि हमे जो जानना चाहिये था, वह हमने जान लिया; वरन् प्रत्येक व्यक्ति की आनन्द-संग्रहणी शक्ति उससे बार-बार आनन्द-संचय की उत्सुकता लिये रहती है। ज्ञान की बातों में ठीक इसका उलटा परिणाम होता है। उसे जब हम एक बार जान लेते हैं, तो उस समय तक के लिये हमें प्राप्ति का गौरव भले ही हो; किंतु फिर उसके लिये कोई उत्सुकता नहीं रह जाती। ज्ञान की पिपासा एक ही बार में बुझ जाती है; किन्तु भाव अनुभव करते हुए हम कभी नहीं थकते। उदाहरण के लिये, पावस के मेघ-खण्डों की बात लें। कोई वैज्ञानिक इस कठोर सत्य को इस तरह पेश करेंगे—सूर्य के उत्ताप से पृथ्वी के जल-कण भाप बनकर ऊपर उठ जाते हैं. उन्हीं का समूह मेघ है जो आकाश पर जब-तब तैरता रहता है। इस रूखे-से तत्त्व को बार-बार सुनने को हमारा जी नहीं चाहता। लेकिन, बादलों की अस्पष्ट आर्द्रता में जो सूक्ष्म आनन्द है, वह हमें अधिक आकृष्ट ही नहीं, बार-बार मुग्ध भी करता रहता है। उस आनन्द में अपने हृदय की भावनाओं का आरोपण कोई कवि ही कर सकता है। सुभद्राकुमारी चौहान उन बादलों से कहती हैं—

'ऐ काले-काले बादल,
देखो तुम बरस न जाना।
इन दुखिया की आँखों को,
देखो मत यों तड़पाना ॥'

यह बात निर्विवाद है कि न तो कहानी की सृष्टि कोई आकस्मिक घटना है और न तो उसका जन्म ही स्वतंत्र रीति से हुआ है। कहानी का स्वरूपनिर्माण हुआ है नाटक, निबंध, उपन्यास, उपाख्यान आदि से। आज दिन इसकी जो उन्नति देखी जाती है एवं उच्च कोटि की कला का रूप पाने में इसे जो आशातीत सफलता मिली है, उसका सारा श्रेय अमेरिका तथा यूरोप के कलाकारों ही को है। पाश्चात्य साहित्य में कल्पनात्मक निबंधों द्वारा उपाख्यान की सृष्टि हुई और वही आगे चलकर अपने चरम लक्ष्य को पहुँची। आधुनिक संसार के किसी भी उन्नत साहित्य में इसकी एक स्वतंत्र सत्ता है।

कहानी का उद्भव

(अंग्रेजी के विख्यात आलोचक श्री हेनरी हडसन का कहना है कि कहानी वह है जो एक ही बैठक में सुगमतया समाप्त की जा सके।) किन्तु, इसी परिभाषा तक सीमित धारणा कहानी पर नहीं की जा सकती। एक बैठक में खत्म होनेवाली कहानी में ही कहानी के सब गुण मौजूद होंगे, ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये कहानी के लिये यह परिभाषा उतनी सही नहीं उतरती। आधुनिक यूरोप की धारणा कुछ और ही है। कहानी (short story)

प्रथमतः कहानी हो, द्वितीयतः आकार में वह यथासंभव छोटी हो और तृतीयतः कुछ और भी हो। केवल आकार मे छोटी होने ही से कोई कहानी कहानी कहने योग्य नहीं वन जाती। हमारे यहाँ अठारह पुराणों में, ईसाइयों के धर्मग्रंथ बाइविल आदि में ऐसी कहानियाँ एकाध नहीं, वरन् अनेक हैं, जो आकार में वहुत छोटी हैं, फिर भी हम उन्हें कहानी की आख्या नहीं दे सकते। कहानी का जो तात्पर्य आये दिन लगाया जाता है, वह इन सबों से परे है। उसकी कुछ और ही विशेषता है, उसके कुछ और ही लक्षण हैं, जो इनसे सर्वथा भिन्न है।

इस तरह कहानी के हम तीन भेद कर सकते हैं—उपाख्यान अथवा आख्यायिका, स्केच (sketch) और कहानी अथवा गल्प। आख्यायिकाओं के नमूने पुराणों और बाइविलों में भरे पड़े हैं और संभवतः उस कोटि की कहानियाँ उनके अलावे संसार में वहुत अधिक अन्यत्र न मिलेंगी। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में नित्यप्रति जितनी कहानियाँ प्रकाशित हुआ करती हैं, उनमें प्रायः आधी से अधिक कहानियाँ कहानियाँ नहीं, अपितु स्केच हैं। यथार्थतया जो गुण तथा उद्देश्य कहानियों में होने चाहिये, उनका उनमें अभाव पाया जाता है। इन दोनों, उपाख्यान और स्केच से परे स्थान है कहानी का। कहानी और स्केच में वहुत अंतर है।

कहानी और स्केल

कहानियों में वर्णित घटनाएँ एक दूसरे से भिन्न करके

हर्गिज नहीं देखी जा सकतीं। वे आपस में संलग्न भिन्न ही की नाईं जुड़ी रहती हैं। उनमें से एक भी अगर अलग कर ली जाय, तो जिस प्रकार नींव की ईंट खिसकने से सारी इमारत ही ढह जाती है, उसी प्रकार समूची कहानी की मिट्टी पलीद हो जाय। दूसरी बड़ी बात यह कि वे सारी संबद्ध घटनाएँ निरंतर एक विशेष लक्ष्य की ओर बढ़ती रहती हैं। प्रत्येक घटना के संश्लिष्ट होने से ही मालूम पड़ता है, मानो उसका लक्ष्य अत्यंत ही समीप है। और तभी पाठकों की उत्सुकता के गोया पर लग जाते हैं। 'अब आया, अब आया' वाली स्थिति ही आनंद सृष्टि की जड़ है। इस तीव्रतम स्थिति को अंग्रेजी में क्लाइमेक्स (climax) कहते हैं। कहानी का प्राण यही क्लाइमेक्स ही है। इस तीव्रतम स्थिति की कमी होने पर कोई भी कहानी कहानी नहीं रह जाती। कहानी का जादू इसी में निहित है। कहानी की एक-एक घटना मानो पाठकों को क्लाइमेक्स के आगे ढकेलती चलती है और वह जितनी ही करीब आती प्रतीत होती है, उतना ही अधिक आनद आता है—उत्सुकता उतनी ही अधिक व्याकुल होती है। यदि सच पूछा जाय, तो कहानी में तीव्र गति का संचार इसी तीव्रतम स्थिति से ही होता है और यह स्थिति भी एक ही दिशा की ओर निर्देश करती है। बेकार की बातों की इसमें कतई गुंजाइश नहीं; * क्योंकि इसकी राह बिलकुल सीधी होती है तथा इसका ध्येय भी बहुत समीप रहता है।

---

* बाघ के पीछा करने पर मनुष्य जिस प्रकार जी-जान से भागता

कहानी में एक भी शब्द फिजूल का आना हानिकारक ही नहीं, जुर्म है। शब्द ऐसे मपे-तुले हों कि उनके छोड़ने पर कहानी का सारा सौंदर्य ही जाता रहे। कहानी में लेखक की लेखनी इतनी संयत होनी उचित है कि उसका व्यक्तित्व अथवा उसकी अनुभूतियाँ किसी भी प्रकार से संपूर्णतया फूट न पड़ें। यही कारण है कि कहानी के आकार-प्रकार में बड़े संयम से काम लेना पड़ता है।

रही बात स्केच की। स्केच में प्रवाह ठीक कहानी जैसा ही होता है; परन्तु उसमें न तो प्लॉट (कथानक) होता है और न कहानी-जैसी तीव्रतम स्थिति। एक बात और, कहानी में एक खासियत है आकस्मिक समाप्ति की। अर्थात् पाठकों को कहानी में यह नहीं समझ पड़ता कि कहानी कैसे शुरू हो गयी और अचानक कैसे तो खत्म भी हो गयी। वे जैसे घपले में पड़ जाते हैं। कहानी की परिसमाप्ति पर उन्हें ऐसा ही प्रतीत होता है जैसे कहानी वस्तुतः पूरी नहीं हुई है, अब भी उसका कुछ अंश बाकी पड़ा हो, जो निहायत जरूरी है। समाप्ति का यह तरीका कहानी की सुन्दरता में चार चाँद लगा देता है। जब

रहता है, रास्ते के खिले हुए सुन्दर फूलों की ओर देखने की उसे फ़ुर्सत नहीं रहती अथवा प्राण-रक्षा के लिये चढ़े हुए वृक्ष से लिपटी लताओं की ओर उसकी दृष्टि नहीं खिंच सकती, उसी प्रकार कहानी में अपने वक्तव्य विषय के सिवाय अन्य विषयों की गुंजाइश नहीं।

—एच० जी० वेल्स

लेखक पाठकों के कंधे पर निर्णय का भार आरोपित कर देता है, तो कहानी खिल-सी उठती है। पाठकों को कुछ दिमागी कसरत करने की जरूरत पड़ती है और यह उपादेय भी है। किंतु स्केच में यह आकस्मिक परिसमाप्ति नहीं पायी जाती। अब यदि ऐसा प्रश्न हो कि इन दोनों में उत्तम कौन है, तो हम कहेंगे कि दोनों ही कला के भिन्न-भिन्न रूप हैं। सुंदर-असुंदर का निर्णय करना जरा टेढ़ी खीर है। हाँ, इतना तो हम अवश्य कह सकते हैं कि स्केच लिखनेवालों को जो सुविधाएँ और आसानी होती है, वह कथाकारों को नहीं। गरज यह कि पहला जितना आसान है, दूसरा उतना नहीं।

कहानी से हमें किसी एक ही पात्र के जीवन की किसी महत्वपूर्ण घटना का परिचय मिलता है। इससे कुछ अधिक जानने की आशा हम नहीं कर सकते और न अधिकार ही है। कहानी का नायक अथवा नायिका पहले क्या रही थी तथा अन्त में उसका क्या हुआ, इतनी सारी बातें क्रमपूर्वक कहानी द्वारा नहीं जानी जा सकतीं। कहानी सिर्फ अपने लक्ष्य पर ही आकर समाप्त हो जाती है। इसीलिये न तो उसका आरंभ ही उचित स्थान से होता है और न अन्त ही। एक विशेष घटना को लेकर कहानी आगे बढ़ती है, एव उसी के साथ समाप्त भी हो जाती है। जीवनी, इतिहास अथवा उपन्यास की तरह उसमें क्रमबद्ध घटनाएँ नहीं होतीं। एक जीवन को लेकर इस प्रकार अनेक कहानियाँ भले ही लिख ली जायँ; किन्तु एक जीवन

की सभी घटनाएँ एक कहानी में नहीं सजायी जा सकतीं।

एक अविच्छिन्न भाव-धारा का हृदय में उद्रेक करना ही कहानी का उद्देश्य है, और वास्तव में कहानी सफल भी तभी होती है जब संक्षेप में ही मनोभावों की सुंदर अभिव्यक्ति हो। कथाकार की कुशलता इसी में है कि वह अपने मनोगत भावों को, अपने वक्तव्य-विषय को इस प्रकार जाहिर करे कि आकार में तो वे छोटे ही हों; किंतु अपने आघात से हृदय के तारों को झंकृत कर दें। प्रत्येक व्यक्ति लेखक की अनुभूतियों का स्पष्टतया अनुभव करने लगे।

संक्षेप में कहानी किसी एक पात्र के जीवन की कोई विशेष घटनामात्र है। किन्तु, वह घटना केवल जैसी-तैसी घटना नहीं, वह मानव-हृदय में अपना गहरा असर डालनेवाली होती है। उससे जीवन में एक वेग, एक गति का संचार होता है; क्योंकि उससे वैचित्र्य तथा वास्तविकता के सामंजस्य की प्रतिष्ठा होती है। पूर्णता या पराकाष्ठा की तो वहाँ गुंजाइश ही नहीं। कहानी अपने प्रधान पात्र के भावना-वैचित्र्य की गहरी छाप लगाती हुई अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये अग्रसर होती रहती है।

एक प्रसिद्ध विद्वान् के कथनानुसार कहानी चरित्र और गठन के लिहाज से नाटक से मिलती-जुलती है। इसकी सत्यता में सन्देह नहीं। कहानी में घटना-वैचित्र्य की विशेषता होती है, मार्मिक दृश्यों का सरल रोचक वर्णन बहुलता से पाया जाता है, आधार एवं पात्र की

कहानी और नाटक

न्यूनता देखी जाती है। ये सारे ही गुण नाटक के हैं। विशेषतया कथोपकथन तो नाटकीय गुण ही है। कथोपकथन की रीति कहानी के लिये अनिवार्य समझी जाती है। मूकपात्र न तो स्वाभाविक होते हैं, न सजीव। कहानी के चरित्रों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये कथोपकथन का प्रयोग करना ही चाहिये। नाटक का सवाद और कहानी का कथोपकथन दोनों के संबंध का ज्वलंत उदाहरण है। यदि कहानी में इन नाटकीय गुणों का सुंदर समावेश न हो, तो कहानी मार्मिक बन ही नहीं सकती। एक बार कथा-साहित्य पर व्याख्यान देते हुए जेम्स डब्ल्यू० लीन (James W. Linn) ने कहा था—किसी पात्र के जीवन की किसी विशेष घटना की नाटकीय अभिव्यंजना ही कहानी है।† अब यह कहने की आवश्यकता नहीं रही कि नाटकीय ढंग का अनुसरण किये बिना कहानी सफल नहीं हो सकती। नाटकीय गुणों के समावेश से इसके प्रभाव में प्रबलता आती है। हृदय पर गहरी छाप लगानेवाली रीतियों का प्रयोग, पात्रों के जीवन में संकट उपस्थित कराना, स्थिति को प्रोत्साहन देना आदि चमत्कारपूर्ण कहानियों के लक्षण हैं और यह विकसित रूप नाट्यकला की सहायता का ही परिचायक है। जिस तरह थोड़े से उपकरणों और परिमित क्षेत्र में ही कहानी को अपने लक्ष्य पर पहुँच जाना

---

† Short story is a representation, in a brief, dramatic form, of a turning point in the life of a single character.

पड़ता है, भूमिका अथवा प्रस्तावना की गुंजाइश नहीं रहती, उसी तरह नाटक का क्षेत्र भी बहुत परिमित रहता है। उसमें इने-गिने शब्दों द्वारा ही स्थिति को प्रभावोत्पादक बनाना पड़ता है। विषय की दृष्टि से नाटक और कहानी मे संबंध न भी दिखायी दे सकता है; किंतु जब उसके कार्य-क्षेत्र और शैली पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जायगा, तो सभी को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उन दोनों का परस्पर गहरा संबंध है। अब यह स्वतः सिद्ध है कि कहानी का यह सुंदर, सरल, रोचक एवं कलामय रूप बहुत अंशों में नाटक की सहायता से ही बन सका है। यदि नाटकीय ढंगों का अनुसरण छोड़ दिया जाय, तो मनोरंजन के बजाय कहानी विरक्ति का कारण बन जाय; इसमें कोई शक नहीं। इन दोनों के चरित्रों के विषय में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं अवश्य; किन्तु स्थानानुसार उनकी विवेचना की जायगी। हाँ, इतना कह देना अत्यावश्यक है कि कहानी में कथानक के बाद ही पात्रों के चरित्र-चित्रण का स्थान आता है। चरित्र-चित्रण कहानी का प्रमुख और अनिवार्य अंग है। इसके बिना कहानी का रूप-सौष्ठव बिलकुल ही नष्ट हो जाता है। तीव्रतम स्थिति कहानी की जान है और कहानी की सारी शक्तियाँ सीमित रहती हैं चरित्र-चित्रण पर। चरित्र-चित्रण का आधार कथोपकथन है। यदि पात्र हों और वे मूक हों, तो उनका होना न होना समान ही है।

प्लॉट, चरित्र एवं दृश्यावली (background) आदि में

कहानी का उपन्यास से मेल है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए

कहानी और उपन्यास

कुछ लोग कहानी और उपन्यास में कोई मौलिक भेद नहीं मानते। किंतु, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, किसी एक पात्र के जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का परिचय देने के अलावे कहानी में पात्रों और जीवनों का विशद् रूप से परिचय देना वांछनीय नहीं। उपन्यास समाज एवं जीवन का चित्र है। कहानी में संपर्णता नहीं होती, उसकी जगह इसमें लाक्षणिकता पायी जाती है। इसका उद्देश्य सिर्फ इतने ही में पूरा हो जाता है कि यह जीवन की एक असंपूर्ण, पर महत्त्वशाली घटना को चुन लेती है और प्रभावोत्पादक तथा लक्षणात्मक रूप से उसकी व्याख्या कर समाप्त हो जाती है। यह अवश्य है कि घटनाओं के क्रम में उपन्यास और कहानी में बहुत कुछ साम्य है; किंतु घटना समावेश में भी दोनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। कहानी में घटनाएँ इसलिये क्रमवद्ध की जाती हैं कि उसकी स्थिति का प्रभाव बढ़े। लेकिन, उपन्यास के साथ यह बात नहीं, उसका संबंध जीवन-चरित्रों से रहता है। उपन्यास में हमें स्त्री-पुरुष यथार्थ जगत-जैसे ही मिलते हैं; परंतु कहानी में वे हमें अल्प समय को, कुछ ही संबंध और क्षणिक-जैसे वातावरण में मिलते हैं। फिर भी यह सत्य है कि वे हृदयग्राही और प्रभावपूर्ण होते हैं।*

---

*—It is as true of men and women in fiction as it is of men and women in actual life. But in the short-

औपन्यासिक का उद्देश्य केवल काल्पनिक चरित्र-सृष्टि ही नहीं रहता, उसे ऐसे-ऐसे चरित्रों की सृष्टि करनी पड़ती है जो सच्चे सामाजिक जीव हों। चरित्र से वे आदर्श को भी अलग नहीं कर सकते। आदर्श चरित्रों की सृष्टि करना औपन्यासिकों का ध्येय रहता है जिससे लोग अपनी भूलों का संशोधन कर सकें।‡

परन्तु, कहानी में ये दोनों विशेषताएँ स्पष्टरूप से नहीं पायी जातीं। वास्तविकता के लिये नाटक और उपन्यास के समान कहानी मे भी स्थान है। यदि सत्यता का आधार न लिया जाय, तो कहानी का सौंदर्य ही विनष्ट हो जाय। फिर भी यथार्थ चित्रण ही साहित्य के लक्ष्य की पराकाष्ठा नहीं। * कोई भी

---

story we meet people for a few minutes and see them in a few relation ships and circumstances only, and while it is indeed true that concentration of attention upon a particular aspect of character may result in a very powerful impression—The study of Literature.

‡—But the novelist is going to be the most potent of artists, because he is going to present conduct, analyse conduct, discuss conduct, suggest conduct illuminate it through and through. —H. G. Wells.

*—सच पूछा जाय तो जिस वैज्ञानिक सत्य को हम एकमात्र सत्य समझते हैं, वह···काल्पनिक सत्य के सामने असत्य सिद्ध होगा। उदाहरणत: जो विज्ञान कल 'अणुवाद' (Atoms) का समर्थक था, वही आज 'गतिशक्तिवाद' (Electrous) का पोषक है और इस 'वाद' के भी दिन इने-गिने ही हैं, क्योंकि प्रत्येक 'वाद' के प्रचलित होते ही अनेक

व्यक्ति जब अपने मनोभावों को दूसरों पर जाहिर करना चाहता है, तो उसे वह बात इस प्रकार कहनी पड़ती है कि दूसरे भी उसे ठीक उसी रूप में ग्रहण कर सकें। और यह तभी हो सकता है, जब कहनेवाला अपनी बात में कुछ नमक-मिर्च लगाये—उसे आवश्यकतानुसार छोटी या बड़ी करके कहे। साहित्य भी मनुष्यों के हृदय की बात है; इसलिये इसे दूसरों के सामने कुछ इस प्रकार कहने की जरूरत होती है कि लोग भी उसे वैसा ही अनुभव करें, उनमें भी वैसी ही अनुभूतियों का उद्रेक हो। इसीलिये साहित्य-सृष्टि बड़ा कठिन काम है। अपने अन्तरतम की भावनाओं को दूसरों के अनुभव करने योग्य बनाकर कहना कुछ आसान नहीं। जो बात स्थूल है, वह किन्हीं अंशों में समझायी भी जा सकती है; परन्तु सूक्ष्म अनुभूतियों के समय तो बड़ी ही मुश्किल होती है। उन सूक्ष्म अनुभूतियों को सच्चे साहित्यकार ही विश्वसनीय बना सकते हैं। इसीलिये, साहित्य केवल यथायथ चित्रण से ही पूर्ण सफल नहीं हो सकता।

जिस समय माँ जोर से विलाप करती हुई गाँव की सब निद्रा-तंद्रा दूर कर देती है, उस समय वह पुत्र-शोक के लिये रोती है,

---

अपवाद प्रगट होने लगते हैं। किन्तु, रामायण का 'राम' अथवा शेक्सपियर की 'पोर्सिया' या कालिदास की 'शकुन्तला'—ये ऐसे सत्य हैं कि जिनपर किसी भी आविष्कार का प्रभाव नहीं पड़ सकता। और इनकी इस सत्यता का आधार है इनकी भौतिक असत्यता।......'साहित्य, साहित्यिक सत्य'—प्रो० धर्मेंद्र ब्रह्मचारी शास्त्री।

ऐसा नहीं है ; किन्तु वह पुत्र-शोक की महत्ता को भी प्रकट करना चाहती है। अपने को सुख या दुख दिखाने की आवश्यकता नहीं होती; दूसरों को उसे दिखाना पड़ता है। इसलिये शोक-प्रकाश के लिये जितना रोना स्वाभाविक होता है, शोक दिखाने के लिये उससे अधिक स्वर चढ़ाने के बिना काम नहीं चलता।*

वस्तुतः अपनी बात के सत्य होने पर भी दूसरों के आगे सत्य बनाने के लिये कुछ घटाने-बढ़ाने की आवश्यकता पड़ती ही है। जब हम मनुष्य को पूर्ण मनुष्य दिखाना चाहेंगे, तो उसके जीवन के उत्थान-पतन को बाद नहीं दे सकते। ऐसी दशा में स्वाभाविक कमजोरियों के कारण कुत्सित, घृण्य एवं अश्लील बातों का समावेश हो जाना अनिवार्य हो जाता है। परन्तु, साहित्य की दृष्टि से सभी हालतों में ऐसी अभिव्यक्ति हितकर और दोष-रहित नहीं हो सकती। इसलिये समय-समय पर वास्तविकता का उल्लंघन करना ही पड़ता है।

इतना ही क्यों, कहानी और उपन्यास के आदर्श भी भिन्न-भिन्न हैं। औपन्यासिक, चाहे वे आदर्श के कट्टर विरोधी ही क्यों न हों, लाख कोशिशों पर भी उपन्यास से शिक्षा के उद्देश्य को निर्मूल नहीं कर सकते। उपन्यास के चरित्रों से किसी न किसी रूप में शिक्षा मिल ही जाती है, यह स्वाभाविक-सी बात है। औपन्यासिक यदि पक्षपात से दूर भी रहना चाहता है, तो भी वह अपने चरित्रों को शिक्षाप्रद होने से रोक नहीं सकता।

* रवींद्रनाथ टैगोर।

वह पाठकों के मस्तिष्क में भावों का उद्रेक करने से दूर नहीं रह सकता।* परन्तु कहानी के साथ यह वात नहीं।

कहानी एक हल्की-सी वस्तु है, एवं एक ही प्रभाव तक इसका उद्देश्य सीमित होता है। यह व्यक्तियों के ध्यान को आकर्षित किये रहती है और तब तक उनकी उत्सुकता को भड़काती चलती है, जब तक कि तीव्रतम-स्थिति नहीं पहुँच जाती। आनन्द-दान देने के लिये सौन्दर्य की सृष्टि करना ही कहानी का मुख्य उद्देश्य है। किसी एक ही भाव अथवा विषय को व्यक्त करना उसका काम है। शिक्षा की वावत तो वहाँ कोई वात ही नहीं। आकार में भी दोनों में जमीन-आसमान का फर्क है। उपन्यास कई दिनों में समाप्त किया जा सकता है, जब कि कहानी केवल एक ही बैठक में समाप्त की जाती है। लेकिन, यह भी कोई वात नहीं कि इसका अपवाद नहीं होता। रूस के अमर कलाकार टॉल्सटॉय की एक जगत्प्रसिद्ध कहानी है 'क्रियोजर-स्नाता'। कहानी काफी लम्बी है, जिसे वाहर से देखने पर उपन्यास के सिवाय कोई उसे कहानी कह ही नहीं सकता। परन्तु है वह कहानी ही। लेकिन, आकार में करीव-करीव समान होते हुए भी 'उग्रजी' के 'चन्द हसीनों के खतूत' को हम कहानी नहीं कह सकते। 'चन्द हसीनों के खतूत' में मुख्य पात्र कई हैं और 'क्रियोजर स्नाता' एक ही महत्त्वपूर्ण घटना पर अवलंबित है। कहानी का नाम एक राग

* ". even if the novelist attempts or affects to be impartial he still can not prevent his characters setting examples, he still can not avoid, as people say, putting ideas into reader's heads."—H. G. wells.

के नाम पर है और उसी पर कहानी का सारा ही आकर्षण, सारी ही मनोमुग्धकारिता निर्भर करती है। इसलिये कहने का तात्पर्य यह कि कहानी केवल आकार ही में भिन्न नहीं, वरन् गठन, उद्देश्य आदि में भी उपन्यास से भिन्न होती है।

एक अन्य विद्वान्—ब्रेन्डर मेथ्यु—ने उपन्यास और कहानी में प्रभाव की एकता का प्रभेद बताया है। कहानी का मुख्य भाग उसका कथानक भाग है। लेकिन उसके कथानक में न तो विभाग की गुंजाइश होती है, न उपविभाग की। कहानी में अन्य बातों के बजाय कल्पना से अधिक काम लिया जाता है। उपन्यास को भी कल्पना से कोई खास विरोध तो नहीं; फिर भी उसमें इसका बहुत कम सहारा लिया जाता है। इसके बजाय अपने आधार के लिये वह यथार्थ जगत को ही सामने रखता है। एक बात में और भी भेद पड़ता है; वह यह कि उपन्यास में मौलिक भाव होने न होने से कुछ आता-जाता नहीं, जब कि कहानी के लिये ऐसा होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

इस तरह कहानी उपन्यास की अपेक्षा अधिक संयम की वस्तु है। क्योंकि इसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित रहता है और संकुचित होते हुए भी दृष्टिकोण, समय, स्थान आदि का आदि से अन्त तक बड़ी सावधानी से निर्वाह करना पड़ता है। जटिलता तो इसकी वैरिन है और सरलता नाम की सहचरी। सरलता ही इसका सौन्दर्य है, एवं सौन्दर्य सृष्टि कर आनन्द देनेवाली कहानी ही कहानी है।

कहानी के उपकरण

कहानी के क्रीड़ा-क्षेत्र की सीमा बहुत विस्तृत है। यह बात बहुत अंशों में सत्य अवश्य है कि जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में, संसार के समस्त व्यापार में इसके उपादान मिल सकते हैं; परन्तु यह भी निस्सन्देह है कि कहानी के लिये जिन उपकरणों की आवश्यकता है, वे हैं तो प्रत्येक व्यापार में मौजूद, किन्तु इतनी सुगमता से पाये नहीं जा सकते। रचना का मूल्य उसकी मौलिकता है। जब तक उसमें नूतनता की प्रतिष्ठा नहीं होती, तब तक उसका हृदयग्राही होना असंभव है। इसलिये निरीक्षण अनिवार्य है। जिसकी दृष्टि जितनी ही पैनी होगी, उसकी रचना उतनी ही मनोहारी हो सकेगी। विश्वविख्यात कहानी-कलाविद् मोपासाँ ने कहा है—जिन वस्तुओं का उपयोग अपनी रचनाओं में करना चाहते हो, उन्हें बार-बार खूब गौर से देखो। इस निरीक्षण के फलस्वरूप तुम्हें उन्हीं वस्तुओं में एक ऐसा नयापन

दिखायी देगा जो दुनिया के लिये सर्वथा नया है। यों तो दुनिया कीसभी चीजें लोगों की नजरों के सामने होती हैं; परन्तु उन्हींका कुछ अंश ऐसा है जिसे सर्व-साधारण देख या समझ नहीं पाते। उनकी दृष्टि के अन्तराल की वस्तु को जब कोई कुशल कलाकार प्रत्यक्ष कर देता है, तो उनका श्रद्धाभाजन होता है। साहित्य की इमारत के लिये अन्यान्य उपादान तो इसी जगत और जीवन से संग्रह किये जाते हैं सही; किन्तु उसकी महिमा इन उपादानों में नहीं, इन उपादानों के प्रति कलाविद् की अभिज्ञता, सहानुभूति एवं उन्हें यथोचित स्थान में सजाने की कुशलता में है।

वही चित्र और चित्रण मानव-मन में अपनी गहरी छाप छोड़ सकते हैं जिनकी सृष्टि मानव-प्रकृति को भली प्रकार निरीक्षण करके हुई हो। मानव-हृदय पर चोट करनेवाली रचना वही हो सकती है जिसमें मानव-जीवन का परिचय निर्देशात्मक तो हो; परन्तु उससे संपूर्ण रूप से मन, आत्मा और परिस्थिति का परिचय प्राप्त हो। कला की दृष्टि से रचना की सार्थकता तथा कहानीकार की सफलता ऐसी ही चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति में है; क्योंकि केवल क्रमबद्ध घटनाएँ ही उपस्थित कर देना कहानी-लेखक का उद्देश्य नहीं होता। घटनाएँ वर्णन-बहुलता की परिचायिका हैं, और केवल वर्णन पर ही कहानी का मूल्य नहीं आँका जा सकता। वर्णन कहानी के लिये किन्हीं अंशों में आवश्यक है जरूर, मगर आद्यन्त वर्णन कहानी नहीं कहा जा सकता।

इसीलिये, यह कहना पड़ता है कि कहानी के उपादान मिलना

सहज भी है, कठिन भी। जीवन के स्तर-स्तर में, संसार के अंग-अंग में कहानी के उपकरण हैं; किंतु बात तो यह है कि सर्व-साधारण की दृष्टि उस हद तक पहुँच नहीं पाती। अगर पहुँच भी पाती है, तो वे अपेक्षित वस्तुओं का उपयुक्त संकलन नहीं कर पाते; क्योंकि यथार्थ जगत की वस्तुओं के अपहरण भर से ही साहित्य का काम नहीं चल सकता। जिन वस्तुओं, जिन भावों की प्रतिष्ठा साहित्य में होती है, उसके संपादन के लिये अनोखी कुशलता तथा सतर्क-बुद्धि की जरूरत पड़ती है। वाह्य-जगत को अपने हृदय-जगत से मिलाकर साहित्यकार को स्वतः एक तीसरा ही जगत बना देना पड़ता है। अर्थात् साहित्यकार वाह्यजगत की वस्तुओं को पहले तो अपनी बना लेता है, फिर अपनी सहृदयता से उन्हें सबके काम लायक ढाँचे में ढालकर संसार के सामने पेश करता है। महाकवि रवींद्रनाथ ने तो इसे 'हृदय-वृत्ति का जारक रस' कहा है। जिस प्रकार भोजन को हजम करने पर ही उससे शरीरोपयोगी रस का निर्माण होता है, उसी प्रकार साहित्य के लिये भी रस का संग्रह करना पड़ता है। परन्तु, प्रत्येक व्यक्ति में यह खूबी पाना असंभव है। संसार में ऐसे सौभाग्यशाली व्यक्ति बहुत थोड़े ही हैं जो संसार की वस्तुओं का सहारा लेकर ही उसे मौलिक रूप दे सकते हैं। जो थोड़े इस योग्य हैं, उन्हें प्रकृति अपने सौन्दर्य-भाण्डार की कुंजी दे देती है और वे अपनी कल्पना के सहारे उस अपरूप सौन्दर्य को विश्व के उपयोग की वस्तु बना देते हैं।

कहानी के जो उपकरण हैं, वे जीवन और जगत के प्रत्येक पहलुओं में विद्यमान हैं; परन्तु उनके सग्रह को तत्पर बुद्धि और आलोचनात्मक चक्षु की आवश्यकता है। हमें उनकी उपयोगिता का भी ज्ञान होना चाहिये। माला गूँथने के लिये माली में फूलों के निर्वाचन की कुशलता जिस प्रकार अनिवार्य है, कहानी-लेखक को भी यह ज्ञात होना आवश्यक है कि उसे कौन-सी सामग्री लेनी है, कौन-सी नहीं। घटना-निर्वाचन और निर्वाचित घटनाओं की प्रभाव-वृद्धि कहानीकार के मुख्य उद्देश्यों में हैं। इसलिये जब तक उसकी दृष्टि आलोचनात्मक न होगी, वह विषय का यथार्थ मूल्य न आँक सकेगा, और इस तरह सफलता उससे अवश्य ही दूर रहेगी।

किन्तु, केवल निरीक्षण के बल पर ही घटना-संपादन में पूरी सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। साहित्य में घटनाओं को ज्यों की त्यों सजा देना उसके महत्त्व और मूल्य को घटा देना है। घटनाएँ लोगों की आँखों से प्रतिदिन एक-जैसी ही गुजरती रहती हैं और केवल उन्हें ही लिपिबद्ध कर देना महज ऐतिहासिक घटना को अंकित कर देना है। इस तरह वह कला की कसौटी पर तब तक खरी नहीं उतर सकती, जब तक उसमें कलाकार का निजत्व न झलके। आरसी पर जिस प्रकार छाया पड़ती है, कलाकार की चित्त-वीणा को प्राकृतिक सौन्दर्य उसी भाँति नाना रूपों में आन्दोलित करता है। फिर उस आन्दोलन से जो सुर निकलता है, उसमें कलाकार का निजत्व भी मिला रहता है।

इसलिये कोई भी वस्तु कलाकार की कलम से अपने ही रूप में हर्गिज नहीं रह पाती।

वास्तव-जगत से साहित्य में विशेषता है। साहित्य एक ऐसी वस्तु का सहारा लेकर अपनी नींव दृढ़ करता है, जो वास्तव जगत में एक आकर्षक, हृदयस्पर्शी रंग चढ़ाकर मानव-हृदय में आनन्दमय भावों की अमिट छाप छोड़ देती है। साहित्यकारों का यह अस्त्र है कल्पना। मौलिकता और नवीनता की स्थापना इसीके बल पर की जाती है। साहित्य में सौन्दर्य का मूल कल्पना ही है। इसके बिना किसी भी व्यक्ति में उदात्त भावों का उदय नहीं हो सकता। यदि सरस कल्पना न हो, तो कहानी निर्जीव हो जाती है। लेखक जब किसी पात्र या चरित्र की सृष्टि करता है,तो उसकी स्वाभाविकता की रक्षा के लिये अपने को ठीक उन्हीं कठिनाइयों में समझता है। इस प्रकार वह उसके मानसिक भावों का सच्चा-सा चित्र उपस्थित करता है। यदि लेखक किसी दूसरे की स्थिति की कल्पना ही न कर सके, तो भाव-व्यञ्जना में वह सफल नहीं हो सकता।

कल्पना और भाव

यह कल्पना के बाहर की बात है कि कल्पना और भावों के अभाव में साहित्य एक पग भी अग्रसर हो सके। साहित्य का प्रमुख उद्देश्य आनन्ददान है। आनन्द का प्रस्रवण रस में है और ये दोनों ही काम कल्पना और भाव पर निर्भर हैं। कल्पना से सौन्दर्य की सृष्टि होती है, भाव से आनन्द की। साहित्य के ये प्रधान सहायक हैं एवं ये दोनों बहुत पास-पास

रहते हैं। इसलिये, कहानी में कल्पना और भाव का विशिष्ट स्थान है।

जिस प्रकार कविता कल्पना के सहारे फलती-फूलती है, उसी प्रकार कहानी भी कल्पना के सहारे खिलती है। यह वह अलादीन का चिराग है, जिससे लेखक एक नई ही दुनिया की सृष्टि करता है। सुन्दर को सुन्दरतर कर देना तो उसके बायें हाथ का खेल है, असुन्दर, कुत्सित और वीभत्स को भी वह सुन्दर की महिमा से भर देता है। साहित्य की सीमा में आकर प्रत्येक वस्तु कल्पना के स्पर्श से खिल पड़ती है।

कहानी और प्रेम

प्रेम कहानियों की श्री-वृद्धि का प्रधान उपकरण है। संसार की किसी भी भाषा के कथा-साहित्य को देखा जाय, उसका श्रेष्ठ आधार प्रेम ही है। इससे हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि अन्य किन्हीं भावों पर सुन्दर कहानियाँ लिखी ही नहीं जा सकतीं, वरन् हमारा उद्देश्य यह है कि संसार में जितनी कहानियाँ लिखी गयीं या लिखी जा रही हैं, उनमें प्रेम की ही भावना प्रबल है। और यह बात भी निस्सन्देह है कि यदि कहानियों में विमल एवं पवित्र प्रेम का निर्वाह हो, तो उससे आनन्द तो प्राप्त हो ही, साथ ही विश्व-शान्ति की प्रतिष्ठा का सराहनीय प्रयास भी हो। प्रेम पर ही दुनिया की भित्ति है, प्रेम ही जीवन है।

साधारणतया जिस वस्तु को हम प्रेम कहा करते

हैं, वह सचमुच प्रेम नहीं। आये दिन प्रेम की जो-जो अवस्थाएँ अथवा परिणाम सामने आते हैं, वे वास्तव में प्रेम के नहीं, प्रत्युत वासना के हैं। प्रेम में अशान्ति और असंयम की गुंजाइश नहीं, उसमें अनन्त आशा और अनूठी प्रतीक्षा रहती है। जो समान रूप से 'आठ पहर भींगा रहे' वह प्रेम है। वहाँ घटने-बढ़ने की कतई गुंजाइश नहीं। वह शिशु-हृदय की तरह पवित्र, आकाश के समान व्यापक और ज्योत्स्ना की तरह निर्मल है। उससे हमारे मन में दिव्य भावनाओं की उत्पत्ति होती है।

प्रत्येक कलाविद् का काम सौन्दर्य के दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार कराना है। प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक विषय में जो एक अलक्षित सौन्दर्य है, जो महिमा है, उसे कलाकार की प्रतिभा के सिवाय अन्य कोई नहीं देख पाते, नहीं समझ सकते। लेकिन, यथार्थवादी मनोवृत्ति से सौन्दर्य को प्रत्यक्षीभूत करने का आदर्श ही सर्वथा बदल जाता है। साहित्यिक संपूर्णतया न तो यथार्थ-वादी है, न प्रकृतिवादी। कलाकार जब आत्मा के सौंदर्य को बाहर के सौंदर्य से संमिलित कर सोने में सुगंध कर देता है, तभी उसकी कुशलता प्रकट होती है। यही कारण है कि साहित्य-कार के आगे केवल बाहरी दुनिया ही मूल्यवान् नहीं। किसी के मुखमण्डल की कांति, यौवन की छटा आदि की अपेक्षा श्रद्धा, भक्ति, त्याग, दया तथा सम्मान आदि गुण इन सौंदर्यों से अधिक महत्वशाली हैं। कलाकार के लिये तो इन्हीं गुणों को

प्रतिष्ठा के लिये बाहरी सौन्दर्य और वस्तुओं के आधार की आवश्यकता होती है। बाह्य-सौन्दर्य क्षणिक है, नश्वर है; इन गुणों का आश्रित होकर ही वह भी अमर हो जाता है। प्रेम भी जब बाहरी सौन्दर्य पर निर्भर करता है, तो वह नश्वर होता है। सौन्दर्य के साथ ही साथ वह प्रेम भी ढल जाता है। किन्तु, प्रेम अमर है और देश, काल एवं परिस्थितियों से परे है।

यदि सच्चे प्रेम, आनन्द-स्वरूप प्रेम, का कहानियों में निर्वाह हो, तो उत्तम हो। साहित्य में प्रेम की आवश्यकता है; क्योंकि साहित्य जीवन का चित्र है और जीवन की सार-वस्तु प्रेम है। यदि उस आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति में साहित्यिक असमर्थ हो, तो ऐसी कोई बात नहीं कि वह अपनी रचनाओं में प्रेम का समावेश करे ही। जबर्दस्ती इस तत्व के निर्वाह से न तो सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है और न आनन्द की प्राप्ति ही। इसलिये मार-मारकर हकीम बनाने की अपेक्षा उस ओर से उदासीन रहना ही श्रेयस्कर है। साहित्य में असुन्दर, कुत्सित की अभिव्यक्ति वांछनीय नहीं; इसमें वे ही भाव सम्मिलित हो सकते हैं जो सत्य, शिव और सुन्दर हों।

जो सुन्दर है, वही सत्य और कल्याणकर है; किन्तु सौन्दर्य की उपलब्धि बड़ी संयमित प्रवृत्ति से होती है। आज दिन

सौन्दर्य बोध

यथार्थवादवाली धारणा ने हमारी सौन्दर्य भावना को कतई कलुषित कर दिया है, जिसके फलस्वरूप साहित्यिकों की मनोवृत्ति अत्यन्त ही मलिन हो गयी

है। लेकिन, ऐसी मनोवृत्ति हममें स्वतः नहीं आयी, वरन् हमने सौंदर्योपलब्धि की यह प्रवृत्ति पाश्चात्य-साहित्यिकों से उधार ली है। पाश्चात्य-साहित्यिकों के सौन्दर्य-बोध की मनोवृत्ति संयमित नहीं। रूप पर आसक्ति के फलस्वरूप जो एक उत्तेजना होती है, वे उसे ही आनन्द मान बैठते हैं। सच्ची बात तो यह है कि असंयत कल्पना द्वारा सौन्दर्य के प्रकृत स्वरूप का परिचय नहीं मिलता। सौन्दर्य की महिमा के लिये शान्त चित्त-वृत्ति की जरूरत है। कोई यह भी सोच सकते हैं कि सौन्दर्य और संयम में परस्पर विरोध है; क्योंकि सौन्दर्य में मादकता है, जिससे उत्तेजना होती है। फलतः सौन्दर्य-ज्ञान के लिये संयम से काम नहीं चलता। यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो इन दोनों में कतई विरोध नहीं। दोनों ही हमें एक दूसरे की ओर आकर्षित करते हैं अर्थात् सौन्दर्य हमें संयम की ओर और संयम हमें सौन्दर्य की ओर ले चलता है। सौन्दर्य की खोज मानवों में स्वाभाविक है। संसार के समस्त व्यापार में ही हम सौन्दर्य की खोज करते हैं। इसके बिना हमें तृप्ति अथवा संतोष हो ही नहीं सकता।

संसार में हमारी जितनी भी आवश्यकताएँ हैं, उनमें भी हम सौन्दर्य को ढूँढ़े बिना नहीं रह सकते। हमारी आवश्यक वस्तुओं, काम की चीजों में यदि सौन्दर्य न हो, तो हमें तृप्ति नहीं होती। यहाँ तक कि भोजन और वस्त्र की आवश्यकताओं में भी हमारा सौन्दर्यबोध काम करता रहता है

यानी सौन्दर्य को हम प्रयोजन के परे लाभ समझते हैं। भोजन से पेट भरने के अलावे भी हम रूप,रस और गंध से मुग्ध हो लेते हैं। इस तरह प्रयोजनीय वस्तुओं से परे होते हुए भी सौन्दर्य-भोग हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक बन गया है। केवल पेट भर भोजन पाकर ही हम संतुष्ट नहीं हो सकते, अपितु उसमें स्वच्छता, सत्कार, सुन्दरता का अभाव हम बुरी तरह अनुभव करते हैं। संयम ही में बल है, दृढ़ता है, विवेक है। असंयम से सौन्दर्य-सृष्टि असंभव है। सौन्दर्य का उपभोग संयत प्रकृति से ही हो सकता है। सौन्दर्य-तत्त्व को भोग की इच्छा रखनेवाले लोग बिलकुल ही नहीं समझ सकते। संसार से हमें नित्य प्रति जो आनन्द का आमन्त्रण मिला करता है, वह महज इसलिये कि हम संयम का साथ नहीं छोड़ते। संसार से हमारे आनन्द के संबंध को स्थापित करनेवाला संयम ही है। इसलिये प्रकृत सौन्दर्य हमें आत्मा की आँखों से देखना चाहिये, चित्त-वृत्ति को शान्त करके उपभोग करना चाहिये।

वस्तुएँ हमें दो तरह से अपनी ओर आकर्षित करती हैं। पहली तो वे वस्तुएँ हैं, जो हमारे उपयोग की हैं अर्थात् जो काम की चीजें हैं, उनकी उपकारिता हमें मुग्ध करती है। और, एक वस्तु केवल हमें मुग्ध ही करती है, यानी वह सुन्दर होती है, और हम उसकी ओर स्वयं खिंच आते हैं। ऐसा क्यों होता है? इस बात के उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि उपयोगी चीजों से हमें लाभ होते हैं; इसलिये वे हमें भली लगती हैं। और,

सुन्दर वस्तुएँ इसलिये मुग्ध करती हैं; क्योंकि वे मंगलमय होती हैं। जो भी वस्तुएँ सुन्दर हैं, वे मंगलमय हैं। उन वस्तुओं से हमारे मन का एक ऐसा अलक्षित संबंध है कि हम आप ही आप उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। किसी युवती के अंग-सौष्ठव की अपेक्षा किसी बालक का भोलापन हमें अधिक मोहित करता है। त्याग, दया आदि गुण में एक ऐसा महान् सौन्दर्य है कि हम उसमें डूब-से जाते हैं। यही कारण है कि भरत का भयापा, राम का त्याग, लक्ष्मण का भ्रातृप्रेम आज तक काव्य और कहानियों की प्रेरणा दे रहे हैं, अमर हैं। लेकिन, फिर भी यह फैसला दूर ही रहा कि जिस सौन्दर्य में हमारे स्वार्थ की बू नहीं, वह हमें क्यों मुग्ध करता है। हम पहले भी कह चुके हैं, सभी सुन्दर वस्तुएँ मंगलमय होती हैं। जब किसी स्वदेश-सेवी के बलिदान की कथा या किसी प्रेमी का असाधारण त्याग हमारे देखने-सुनने में आता है, तो हम आश्चर्य से अभिभूत हुए बिना रही नहीं सकते; क्योंकि उस व्यक्ति का वह त्याग तौलने पर हमारे अपने स्वार्थ से सब तरह से भारी ही प्रतीत होता है। फिर हम अपने स्वार्थ की संकीर्ण गली से दूर होकर प्राणों में उसकी महानता का अनुभव करने लगते हैं। जो कुछ सौन्दर्य में व्यक्त है, वह ईश्वर का ही रूप है। विश्व की प्रत्येक सुन्दरता उसी महान् की परछाईं से उद्दीप्त है, यानी सौन्दर्य ईश्वर की महिमा है, इसीलिये वह कल्याणकर भी है। सौन्दर्य और मंगल के संबंध को बताते हुए रवींद्रनाथ ने लिखा है—"सौन्दर्य जगत

की नाना घटनाओं में ईश्वर के ऐश्वर्य को दिखाता है। मंगल भी मनुष्य के जीवन के अन्दर वही कार्य करता रहता है। मंगल सौन्दर्य को एकमात्र आँखों से नहीं दिखाता, एकमात्र बुद्धि के द्वारा नहीं समझाता, उसको वह अत्यन्त व्यापक और गंभीर बनाकर मनुष्य के निकट ले आता है। वास्तव में मंगल मनुष्य के पास रहनेवाला अन्तरिक सौन्दर्य है। इसी कारण से हम उसे बहुधा सुगमतया सुन्दर रूप में नहीं समझ सकते। किन्तु, जब समझते हैं, तो हमारे प्राण एक वर्षा की नदी के समान भर उठते हैं। उस समय हमें उसकी अपेक्षा कोई भी वस्तु अधिक सुन्दर नहीं प्रतीत होती।"

सौन्दर्य जहाँ विकास की पूर्णता को प्राप्त होता है, वहीं कल्याण से उसका सम्मिलन होता है। इस सम्मिलित स्वरूप को जान लेने पर सब सुन्दर ही सुन्दर प्रतीत होता है। एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है—"सौन्दर्य-शास्त्र की गूढ़ता पर हम जितना ही गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं, हमारे सामने यह प्रत्यक्ष होता जाता है कि द्रष्टा और हृदय के आदर्शपूर्ण सम्मिलन पर ही उसका अस्तित्व निर्भर है। एक केन्द्र पर जाकर दोनों का सम्मिलन इतना घनिष्ट हो जाता है कि यह एकता हमारे हृदय में परिष्कृत भावना का उद्रेक करती है। सुन्दर ही सत्य बन जाता है, हृदय रहस्य एवं आनन्द की अवस्था को प्राप्त कर संपूर्ण का स्पर्श करता है।"

सुन्दर ही सत्य है, सत्य ही सुन्दर है। सत्य से हमें प्रेम

होता है तथा प्रेम से आनन्द की उपलब्धि होती है।

अब इसपर विचार करना है कि कथानक का आधार क्या है। कथानक लेखक के गाढ़े अनुभव की उपज है। परिस्थिति-

कथानक का आधार

विशेष से एक प्रकार के भाव का आविर्भाव होता है। कथानक का आधार वही भाव है, उस भाव का प्रादुर्भाव चाहे किसी भी स्थिति का परिणाम हो। कहानी की रचना में इसी भाव की प्रेरणा काम करती है। अंग्रेजी में इसे Theme अथवा Motive कहते हैं। कहानी के लिये किसी खास विषय अथवा वस्तु की जरूरत नहीं होती। चाहे जिस किसी भी विषय पर उत्कृष्ट कहानी लिखी जा सकती है। समस्त संसार के कथा-साहित्य इस बात के खासे प्रमाण हैं। लेकिन, कल्पनात्मक और भावात्मक कहानियाँ अधिक रोचक होती हैं। जन-साधारण पर इस कोटि की कहानियों का विशेष प्रभाव पड़ता है। जिस कहानी में किसी रहस्य अथवा पहेली के सुलझाने का प्रयास किया जाता है, उसमें आकर्षण की मात्रा औरों की अपेक्षा अधिक होती है। समाज की विभिन्न अवस्थाओं को आधार मानकर अत्युत्तम कहानियों की रचना हो सकती है। गरज यह कि इतना व्यापक है इसका क्षेत्र कि ऐसे ही विषयों का अभाव-सा है, जिनपर अच्छी कहानियाँ न लिखी जा सकती हों। करुण, हास्य, भयानक, शृंगार आदि रस, वात्सल्य, मैत्री, प्रेम दया, उपकार आदि भाव; रहस्य, भय, कल्पना तथा विभिन्न सामाजिक

अवस्थाओं पर सुन्दर से सुन्दर कहानियाँ लिखी जा सकती हैं।

कुछ विद्वानों की राय है कि साहित्य में यदि वेदना-तत्व का समावेश न हो, तो आनन्द की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस बात की सत्यता में सन्देह नहीं। साहित्य की आधार-वस्तु जीवन है। जीवन है क्या ? कुछ दुःख, कुछ सुख, कुछ हास, कुछ अश्रु का ही तो सम्मिश्रण है। इनमें दुःख तथा वेदना की ही मात्रा जीवन में अधिक है।

मनुष्य अपनी वेदनाओं में व्यस्त रहा करता है। सुख की उसे आशा लगी रहती है और वह दुःख को दूर करने की चेष्टा

करुण-रस

में तत्पर रहा करता है। इसी से जीवन में जागृति होती है, प्रगतिशीलता आती है। अगर वेदना न हो, तो जीवन में आनन्द और माधुर्य वास्तव में रहें ही नहीं। हमें दुख होता है, इसीलिये सुख हमें मीठा प्रतीत होता है। वेदना की छबि बड़ी ही मोहक, सरल और सुन्दर होती है, उसमें कोमलता एवं पवित्रता का आभास मिलता है। करुणा के सलिल से सिंचित होकर हमारे मनोभाव आत्मा के योग्य बन जाते हैं। दूसरी बड़ी बात यह है कि संसार में वेदना की मात्रा अधिक होने से करुणा के भावों को सुगमतया संसार से सहानुभूति की भीख मिल जाती है। साहित्य वास्तव में संसार से सहानुभूति पाने की आकांक्षा का ही परिणाम है। प्रत्येक व्यक्ति बहुतों में अपनी प्रतिष्ठा के लिये व्यग्र होता है। वह चाहता है कि उसके मनोभाव बहुतों में अमर होकर रहें। वरना साहित्यिक संपूर्ण

दुःखवादी नहीं होते। वे सुख के स्वप्न को पकड़ने के लिये ही दुःख में डुबकियाँ लगाते हैं। वे गाते हैं—

"Our sincerest laughter,
With some pain is fraught :
Our sweetest songs are those
that tell of saddest thought."

संक्षेप में, वे ही गीत सबसे अधिक प्रिय और मीठे हैं जो वेदनामय भावों से ओत-प्रोत हैं।

मनुष्य के लिये स्वभावतया दुःख कोई प्रिय वस्तु नहीं; किंतु अप्रिय होते हुए भी वह आवश्यक है, साथ ही चाहकर भी कोई उससे मुक्ति नहीं पा सकता। साधारण लोग दुःख के नाम से ही मर-से उठते हैं, यद्यपि उनके जीवन का अधिक अंश दुःख से ही लिपटा रहता है। किन्तु, दुःख के प्रकृत सौन्दर्य को, उसके प्रकृत अर्थ को कलाविद् की आँखें, कलाकार का हृदय समझता है। वह कहता है—

"जीवन के पहले प्रभात में
मिला तुम्हीं-सा था, प्रिय,
यह पावन उपहार ;
जिसे तुम कहते आज अभाव
लिये नयनों में करुणा-नीर ;
और करने को जिसका अन्त
व्यथित हो होकर परम अधीर

हे हो मेरे चारों ओर
विभव की दारुण ज्योति पसार !"

कवि को दुःख का, सुख के अभाव का, सच्चा तात्पर्य ज्ञात होता है, इसीलिये वह वेदनाओं से दूर होकर सुख की सीमा में पाँव नहीं रोपना चाहता। वेदना बड़ी ही मीठी वस्तु है। इसकी छाया इतनी सरल-सुशीतल है कि चाहे कोई न भी चाहे, पर उसकी सीमा में उसे सपूत की नाईं प्रवेश करना ही पड़ता है। परन्तु, सुख-प्राप्ति में लोगों की असमर्थता प्रकट होती है। कोई भी व्यक्ति इच्छानुसार सुख पा ही ले, ऐसी बात नहीं। वेदना ही जीवन की सहचरी है। इसीलिये वह प्यारी है, मीठी है।

वेदना से आनन्द का एक निर्मल सोता-सा फूट पड़ता है। आदि—कवि वाल्मीकि के कण्ठ से वेदना ने ही मधुर वाणी की मन्दाकिनी बहायी थी। संसार में वेदना का भाग अधिक होने की वजह से लोगों को वह अधिक मर्मस्पर्शी मालूम होती है। रचना को सजीव और प्रभावोत्पादक बनाने के लिये स्वाभाविक विषयों पर ध्यान देना प्रयोजनीय है और यह वेदना मानव-जीवन के गले का हार ही तो है। यह जन्म से ही स्वर्गीय वैभव की तरह लगी आयी है। इसी की बदौलत साहित्य-जैसी उपयोगी वस्तु का स्रोत प्रवाहित हुआ। 'पंत' की वाणी वास्तव में बड़ी ही सुंदर है—

"वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान;
उमड़कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।"

करुणा की अभिव्यक्ति में आनन्द है। यही कारण है कि साहित्य में करुणा को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। कहानी में भी करुणा का समावेश अनिवार्य ही है। इसको ध्यान में रखते हुए कहानी में ऐसी घटनाएँ उपस्थित की जायँ, ऐसे पात्र प्रस्तुत किये जायँ, जो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के तारों को अपने आघात से झंकृत कर दें। इस काम के लिये सतर्कता की अतीव आवश्यकता है। रचना और पात्र में मर्म-स्पर्शिता न होने से अन्तःकरण पर उसका असर पड़ेगा भी क्या? यदि थोड़ी भी असावधानता हुई, तो सारा सौन्दर्य ही जाता रहे। यह वैसा ही साफ कपड़ा है, जिसपर कीचड़ की एक सामान्य बूँद भी असामान्य क्षति पहुँचाती है। करुणा रस की कोमलता व्यर्थ के वाह्याडम्बर से कतई नष्ट हो जाती है। इसकी कोमलता की रक्षा इस प्रकार से हो सकती है कि मनोभाव बिलकुल स्पष्ट रूप से न प्रकट किये जायँ। अभिव्यंजना में कुछ गोपन भी रहे। स्पष्टता इसकी स्वाभाविकता पर असाधारण आघात करती है। बात भी सच्ची है। आप अपने आस-पास दृष्टि दौड़ायें, जो व्यक्ति दारुण शोक से अभिभूत होता है, वह न तो पूर्णतया बोल ही सकता है। और न पुक्का फाड़ कर रो ही सकता है। कुछ माताएँ जो विलाप करती हुई सिर पर आकाश उठा लेती हैं, उनका अभिप्राय शोक करना नहीं, वल्कि अपने शोक को औरों पर प्रकट करना है। वह कृत्रिम उपाय है। अतएव, करुणा का निर्वाह कहानी में भी इसी स्वाभाविक रूप में होना चाहिये। अन्यथा लेने के देने ही पड़ जाते हैं।

कहानी हल्का साहित्य है। इसे लोगों ने व्यस्त जीवन को थोड़ी देर के लिये बहला लेने का सुन्दर साधन माना है। इस-

हास्य-रस

लिये, इसमें हास्य का भी यदि निपुणता से निर्वाह हो, तो उत्तम है। यथार्थ जीवन में भी हास्य का स्थान अन्यतम है। पाठक केवल करुणा और शृंगार से ही अपनी प्यास नहीं बुझा सकते। हास्य किन्हीं अंशों में आवश्यक भी है। यदि हास्य के प्रयोग में लेखक अपनी कुशलता से काम ले, तो 'एक पंथ कई काज' हो सकते हैं। हँसी है तो हल्की ही चीज, परन्तु इसमें गंभीरता भी कुछ कम नहीं होती। लोगों को हँसते-हँसाते एक मार्मिक बात समझ में आ जाती है। हाँ, हास्य शिष्ट हो, सभ्यता की सीमा का अतिक्रमण न कर जाय। अनुभवी स्वास्थ्य-शास्त्रियों का कहना है कि स्वास्थ्य को सुन्दर बनाए रखने के लिये जीवन में हास्य जरूरी है। साहित्य के लिये तो हास्य की उपयोगिता बहुत ही अधिक है। इसमें प्रसन्नता लाने की अद्भुत क्षमता होती है। हो सकता है, एकांगी करुण, जासूसी या प्रेम-कहानियों को पढ़कर मनुष्य ऊब उठे। ऐसे मौके पर हास्य ही ऐसी वस्तु है, जो छू-मंतर की तरह सारी उदासी को दूर भगा देती है। हास्य में सरसता है, माधुर्य है। इससे ऊबे हुए लोगों की रुचि फिरती है तथा इससे कम ही लोग ऊबा करते हैं।

हास्य के दो अंग और हैं—व्यंग तथा विनोद। इन दोनों का प्रयोग साहित्य में अधिकता से देखा जाता है। व्यंग्य से किसी

को चिकोटी काटी जाती है, अथवा सामाजिक रस्म-रिवाजों की खरी आलोचना की जाती है। मजाक के मजमून में ही अपनी कमी तथा बुराइयों पर प्रकाश डाला जाता है। विनोद में मनोरंजन के अलावे कोई दूसरा उद्देश्य साधित नहीं होता और न व्यंग्य-जैसी कटुता ही उसमें होती है। विनोद के लिये मँजे हुए विचार की आवश्यकता है; क्योंकि विनोद की ओट में तत्कालीन सामाजिक अवस्थाओं का स्पष्ट चित्र पाया जाता है। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि विनोद प्रसंग के विरुद्ध न हो। हास्य का प्रयोग पात्र, प्रसंग और स्थान के अनुकूल ही होना चाहिये।

ऊपर जितनी भी बातों का उल्लेख हमने किया है, वे सभी निर्भर करती हैं लेखक की प्रतिभा, विश्व और मानव-जीवन-संबंधी गहरे अनुभवों पर। लेखक को जीवन और संसार का जितना ही गंभीर अनुभव होगा, उसकी प्रतिभा जितनी ही तीव्र होगी, रचना भी उतनी ही मर्मस्पर्शी होगी। लेखक को अपनी प्रतिभा से परिचित होना चाहिये। उसे यह सोच-समझ लेना चाहिये कि वह किस प्रकार की रचना द्वारा मानव-हृदय के अधिक निकट पहुँच सकेगा; क्योंकि खास-खास विषय पर खास-खास व्यक्ति ही सफल हो सकते हैं। एक व्यक्ति जिस कुशलता एवं निपुणता से करुण रस की रचना कर सकता है, वैसी ही सफलता उसे हास्य में नहीं मिल सकती। सामाजिक समस्याओं के मनोहारी वर्णनों द्वारा जो लेखक पाठक के

हृदय को मुग्ध कर सकता है, कल्पनात्मक और भावात्मक रचनाएँ उसे प्रशंसा का पात्र नहीं बना सकतीं । अतएव, लेखक को चाहिये कि अपनी प्रतिभा के प्रतिकूल अनुभवों की व्यंजना के लिये जबर्दस्ती लेखनी न उठाये । उसे तो वह विषय चुनना चाहिये, जो उसका अपना-सा हो गया हो, जिसे वह अपनी प्रतिभा द्वारा सर्वांगसुन्दर बना दे सकता हो, जिसे वह विश्व-साहित्य की वस्तु बनाकर अमर कर दे सकता हो। ऐसा न होने से लेखक अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग ही नहीं करता, अपितु उसे लोगों की नजरों से गिराता है।

कहानी के मुख्य अङ्ग

जब हम कहानी के प्रकृत स्वरूप को हृदयंगम कर लेते हैं, तो तीन विषय की प्रमुखता हमारे सामने आती है। ये ही तीन विषय कहानी के मुख्य अंग हैं—वस्तु, पात्र और दृश्य (background or atmosphere)। कथावस्तु अथवा कथानक ही कहानी का प्राण है। जिन घटनाओं और कार्यों पर कहानी का विकास अवलम्बित है, वही कथानक है और मानव-जीवन-संबंधी गहरे अनुभवों की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति ही कथानक का श्रेष्ठ आधार है। जीवन में जितने व्यापार घटते हैं, उन्हीं के सहारे कथानक का निर्माण होता है। जीवन-संबंधी गंभीर विवेचनाएँ, जो नाना व्यापार में प्रकट होकर जीवन की गुत्थियों पर प्रकाश डालती हैं, कथानक-रचना की प्रधान सहायिका हैं। इन्हें छोड़ देने से कथानक में गति ही नहीं आ सकती और गतिहीन कथानक कहानी की महत्ता नहीं बढ़ा सकते। अतः

कथानक को सुन्दर से सुन्दर बनाने के लिये जगत और जीवन संबंधी गहरी अभिज्ञताओं की खासी पूँजी होनी चाहिये। लेखक वही उच्च कोटि का माना जाता है, जो अपने कथानक की रचना जीवन की कठिन से कठिन गुत्थियों और उच्च सिद्धान्तों से करता है।

पिछले प्रकरण में हम कह चुके हैं कि कथा-वस्तु की सृष्टि का सारा श्रेय एक 'मौलिक भाव' को है। कलापूर्ण कहानी को एक रहस्य का सहारा लेना पड़ता है, एक समस्या खड़ी करनी होती है। इस तरह की समस्या खड़ी किये बिना कथानक के अग्रसर होने की सुविधा नहीं होती। समस्या ही कथानक की प्रभाव-वृद्धि के साथ उसे अग्रसर करती है। उसी समस्या के समाधान के साथ कहानी चरम विकास को प्राप्त होती है। वही समस्या कहानी का केन्द्र-विन्दु बन जाती है और उसे ही सुलझाने के प्रयास में कथानक की पुष्टि होती है। यह भी कोई बात नहीं कि हर हालत में समस्याओं का समाधान आवश्यक ही है; लेकिन पात्र के जीवन की उलझनें कहानी को अत्यधिक आकर्षक बना देती हैं। पात्र को संकटापन्न अवस्था में पाठकों के सामने उपस्थित करना, कहानी की सुन्दरता में चार चाँद लगा देना है।

समस्या-समावेश के लिये इतनी चतुराई अवश्य चाहिये कि पाठक पात्र की विचार-धाराओं पर अधिकार न कर सके। आनेवाली घटनाएँ सर्वदा ऐसी हों कि पाठक पहले तो उन्हें

हर्गिज न ताड़ सके। प्रत्येक घटना पाठक के मन में भविष्य की एक कल्पना खड़ी कर देती है, 'शायद यही होगा'......। और ऐसी दशा में कथानक यदि पाठक के विचारानुकूल परिणाम पर समाप्त होता है, तो पाठक कहानी के बजाय अपनी दूरदर्शिता का आनन्द प्राप्त करने लगता है। इसलिये लेखक को इससे बचने के लिये सतर्कता से काम लेना चाहिये। समस्या उपस्थित करने का एक बहुत ही छोटा-सा उदाहरण हम नीचे पेश करते हैं।

परिवर्तन-स्थल

भिक्खू एक गरीब है, सच्चरित्र और धर्म-भीरु। उसकी गरीबी हद को गुजर चुकी है। उसके पीछे एक बड़ा परिवार है, पर मौत की बीमारी से लाचार पत्नी, आधे दर्जन हड्डियों के ढाँचे से बच्चे, भूखे, कातर और समाज की आँखों में आठों पहर खटकनेवाली पन्द्रह साल की अविवाहित बेटी! समाज में उसकी निन्दा का तूफान उठा करता है। फाके करते हुए बच्चे एक-एक कर आँखें मूँदते चलते हैं और आज स्त्री की जबान बन्द हो चुकी है—शायद कुछ ही घण्टों की मेहमान हो। दिन भर की करारी मिहनत के बाद मरे हुए पैरों को बलपूर्वक ढकेलता हुआ भिक्खू जब घर आता है, तो ये सारी ही बातें उसकी आँखों पर अंधकार लाद देती हैं। बेचारा चार दिनों का भूखा! बच्चे मारे भूख के कराह उठते हैं—"बाबूजी!" स्त्री रोग-शय्या से, संसार भर की करुणा अपनी आँखों में बटोरकर उसे देखती है—और भिक्खू उठ खड़ा होता है। बगल की ठाकुर-

बाड़ी से देवता के गहने चोरी करता है। दूकान पर जब वह उन गहनों को बेचने जाता है, तो दूकानदार उसके उड़े हुए चेहरे, भयत्रस्त व्यवहार आदि से सब कुछ भाँप जाता है। साग-पात के मोल वह गहने माँगता है और न देने पर पुलिस के सुपुर्द कर देने की धमकी देता है। भिक्खू की शुष्क आँखें जल उठती हैं और एक ही बार में वह दूकानदार को ले डूबता है। एक करुणा-भरी चीख उठती है। पास-पड़ोस के लोग जुट जाते हैं। भिक्खू पहले तो भाग खड़ा होता है; फिर हत्या के अपराध की गुरुता उसकी आँखों पर नाच उठती है। अनुताप की आग से उसका अपराधी हृदय जल उठता है और वह पुलिस के हाथों स्वयं आत्मसमर्पण कर देता है।

इसी तरह की अवस्थाओं में कलाकार की कुशलता की सच्ची परीक्षा होती है। एक आदमी, जो अपने जीवन के बीते दिनों में सच्चरित्र रहा है, जब परिस्थितियों के आलबाल में में पड़कर हत्या-जैसा गुरुतर अपराध कर बैठता है, तो क्षिप्तता, भयत्रस्तता एवं भयजनित पश्चात्ताप का उसमें विचित्र समावेश हो जाता है। एक ओर तो उसे आसुरी-प्रवृत्ति अन्य अपराध के लिये उकसाती है और दूसरी ओर दैवी-मनोवृत्ति उसके हृदय पर पश्चात्ताप का दारुण बोझ लाद देती है। कभी तो आत्म-समर्पण कर सारे अपराध कबूल कर लेने को जी चाहता है और कभी ऐसी भी इच्छा होती है कि अपनी रक्षा के लिये यदि अन्य हत्याएँ भी करनी पड़ें, तो कोई अनुचित नहीं। जब

मन में इन दो तरह की प्रवृत्तियों में लड़ाई छिड़ जाती है, तो विजय के फैसले में लेखक का जौहर प्रदर्शित होता है और कौशल का परिचय मिलता है। ऐसे परिवर्तन-स्थल में परिणाम दिखाने वाले लेखकों के प्रकार हो जाते हैं। इसके अनुसार दो श्रेणी के लेखक पाये जाते हैं—एक 'कला कला के लिये' (Art for-Arts sake) वालों की श्रेणी, दूसरी उनकी जो मनोभावों की विश्लेषणात्मक व्याख्या करते हों। पहली श्रेणी के साहित्यिकों का विचार है, मनुष्य के मनोभाव उसे जिस राह से लिये चलते हैं, साहित्य में उन्हींका चित्र अपेक्षित है। कुछ अन्य वस्तु-तांत्रिकों का भी यही कहना है। जो लेखक इस कोटि के, यानी उपरोक्त मंतव्य के अनुयायी हैं, वे सत्य पर निष्ठावान् होते हैं और सरलता ही उनकी विशेषता है। वे मनोभावों का चित्रण न करके, कार्यरूप में उनकी जो परिणति होती है, उसी का चित्र अपेक्षित मानते हैं। बात है भी सत्य, किसी भी व्यक्ति के मनोभाव को हम आसानी से क्या, पढ़ ही नहीं सकते। बल्कि उनके कार्यों को देखकर ही हम उनके मनोभाव का अनुमान कर सकते हैं।

यह किन्हीं अंशों में संभव हो सकता है कि किसी व्यक्ति के कार्यों को निरीक्षण करते हुए हम अनुमान कर लें कि उसके इन कार्यों मे हृदय की कौन-सी भावना काम करती है। परन्तु, सभी अवस्थाओं में यह जानना असंभव है कि उसकी आन्तरिक भावनाओं का विकास किस रूप में होगा। मानव-प्रकृति भिन्न-

भिन्न होती है। मनुष्यों के शारीरिक गठन में, उपादानों में एकता अवश्य है; लेकिन इन्द्रियाँ सभी की एक-सी कार्यकरी नहीं होतीं। प्रत्येक व्यक्ति की इन्द्रियों का कर्तव्य भी एक है, तथापि वे एक दूसरे से कर्तव्य-पालन में आगे-पीछे रहती हैं। किसी की इन्द्रियाँ काम करती हैं, किसी की नहीं भी। मनस्तत्व-विद् इस दुबिधे के समय अपने अनुभवों का उपयोग करते हैं। अपने पात्र को किसी आफत का शिकार बनाकर वे यह सोचते हैं कि यदि ऐसी ही आपदा हमपर आन पड़ती, तो हम क्या करते। फलतः पात्र के अपने सिद्धान्त, अपनी प्रकृति के बदले वहाँ सम्पूर्णतया लेखक के विचार और लेखक का स्वभाव उतर आता है। वह वर्णना चरित्र के अनुरूप नहीं, लेखक के अनुरूप होती है। यह कुछ तो अस्वाभाविक होता है, कुछ निर्जीव-सा भी। यही कारण है कि मनस्तत्वविद् कलाकार यह आसानी से दिखा देते हैं कि कोई काम कोई किस भाव की प्रेरणा से करता है; परन्तु यह बताना उनके सामर्थ्य के बाहर की बात है कि आखिर कोई भी ऐसा करता क्यों है? सत्य का असली स्वरूप ही उनकी पहुँच के बाहर रह जाता है।

इस कोटि के कलाकार अर्थात् वस्तुतांत्रिक उद्धरण-स्वरूप बताये गये हत्यारे को निःसंकोच पतन के गढ़े की ओर ही ढकेल देंगे; क्योंकि वे तो संलग्न भावनाओं के ही वशीभूत होते हैं। एक अपराध दूसरे अपराध का भी कारण होता है, यह स्वतःसिद्ध है। वे इसी को स्वाभाविक समझेंगे कि भय, प्राणों की ममता

उसे सत्य स्वीकार करने के लिये निर्भीक बनने का मौका नहीं देती। उसके मन मे भय-जन्य नाना दुर्भावनाएँ उपजती हैं और उस अपराध को अंधकार में रखने के लिये वह तरह-तरह के झूठे और कृत्रिम उपायों का सहारा लेता है। किन्तु, जो लेखक दूसरी श्रेणी के हैं, उनकी हर तरह से ऐसी ही कोशिशें रहेंगी कि वह घातक अपने दुष्कृत्य का तात्पर्य जाने और उत्थान की ओर बढ़े। वे साहित्य में सदाचार की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, सत्य की स्थापना करने के इच्छुक हैं। इसी समस्या को सुलझाते हुए वे सत्य, शिव एवं सुन्दर के दर्शन करावेंगे। उनका घातक आत्म-समर्पण की भावना से अभिप्रेत होकर तमाम दुनिया के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लेगा। उसे तदनुसार दण्ड से भय अथवा दुःख न होगा। इस श्रेणी का साहित्यिक उस निकृष्ट ढंग की ओर झुक ही नहीं सकता कि घातक के सामने एकाएक एक और व्यक्ति आता है और वह उसकी भी हत्या करके रुपये लेकर चम्पत हो जाता है!

आश्चर्य-तत्व

कहानी में किसी तरह के रहस्य या आश्चर्यतत्त्व का प्रयोग बड़ा ही सुन्दर और आकर्षक होता है। इससे कहानी में जान-सी आ जाती है और उसकी गति भी द्रुत हो जाती है। जब वह अपने लक्ष्य पर पहुँच जाती है, तो पाठकों के हृदय पर एक अपूर्व उत्सुकता छोड़ देती है। यही लक्ष्य climax कहलाता है, जिसपर हम पिछले प्रकरण में प्रकाश डाल चुके हैं। कहानी के लिये तीव्रतम स्थिति

का प्रयोग अनिवार्य नहीं, परन्तु यह सत्य है कि उसी पर सारी रोचकता केन्द्रीभूत हो जाती है। इसी केन्द्र पर पहुँचने के लिये पाठक कहानी के साथ अग्रसर होते रहते हैं। तीव्रतम स्थिति के प्रयोग के लिये दो बातों पर ध्यान रखना अत्यावश्यक है। पहली तो यह कि जहाँ से कहानी शुरू होती है, तीव्रतम स्थिति उस स्थान से नजदीक ही हो। दूर होने से पाठक धैर्य की रक्षा नहीं कर सकते। दूसरी बात यह कि उस स्थिति पर पहुँचते ही कहानी समाप्त हो जाय। पाठकों के मन में परिणाम जानने की एक गुदगुदी-सी लगी रहती है। यदि उस स्थिति पर पहुँचने के अतिरिक्त भी लेखक दो-चार बातें कह दे, तो उससे लोग विरक्त-से हो उठते हैं और कहानी की सुन्दरता ही बिगड़ जाती है। जिस कहानी में किसी तरह का रहस्य रहता है, उसकी आकस्मिक समाप्ति बड़ी ही प्रभावोत्पादक होती है। इसपर किसी अन्य प्रकरण में भली तरह प्रकाश डाला जायगा।

बहुत-से लोग हमारे इस कथन से सहमत नहीं भी हो सकते हैं। उनका विचार है कि पाठकों को किसी तरह की दुविधा में डाल देना उचित नहीं। पाठक आनन्द प्राप्ति के लिये ही कहानी पढ़ते हैं। अगर उन्हें कहानी पढ़कर उसके परिणाम पर कुछ काल माथापच्ची करनी पडे, तो वे गहन साहित्य में भी आनन्द पा सकते हैं परन्तु, हम इससे सहमत नहीं। एक लेखक का मत है कि आश्चर्यजनक कहानियों में पाठकों की दुविधा मिटाने के लिये समाप्ति भी अकस्मात् हो जानी चाहिये। इस बात का

विशेष ध्यान रखना चाहिये कि कहानी का अन्त चाहे जैसा अकस्मात् और आश्चर्यजनक हो, पर वह हो संभव। सामाजिक कहानियाँ तथा गल्पें सुखान्त हो सकती हैं, दार्शनिक तौर पर समाप्त हो सकती हैं, नवीन ढंग से शिक्षापूर्ण हो सकती हैं या ऐसे रोचक ढंग से समाप्त की जा सकती हैं कि पाठक का मन बाद में प्रफुल्लित रहे।*

उपरोक्त मंतव्य में कुछ तो हमें पसन्द है; किन्तु इस बात से हम सहमत नहीं कि कहानी की आकस्मिक समाप्ति पर भी पाठकों के लिये कुछ और बढ़ाया जाय। जिसका नाम आकस्मिक समाप्ति है, वह अचानक समाप्त हो जाना भर है। उसके आगे एक भी बात कहने से नाम की सार्थकता नहीं होती। अचानक समाप्त होनेवाली कहानी से पाठकों के मन में परिणाम के लिये जो हलचल-सी पड़ जाती है, उसी से कहानी का सौन्दर्य बना रहता है। कम से कम पाठकों को कुछ तो अपनी अक्ल की गाँठ टटोलनी ही पड़ती है और यह उत्तम है। तब हम यह भी कहेंगे कि वह रहस्य-जाल गणित के किसी जटिल प्रश्न-सा कठिन न हो, वरन् कहानीसमाप्तहोने के ढंग से ही पाठकों को उस रहस्य का अन्दाजा लग जाय। केवल कुछ गोपन-रीति से आशय की ओर निर्देश करना ही उसकी खूबी है। एक बानगी लीजिये—'कौशिक' जी की एक कहानी है 'प्रभाव'। उसका अन्त इसी बात को ध्यान में रखकर किया गया है। किन्तु, वह बड़ा ही भद्दा और असंगत प्रतीत होता है

* श्री मुंशी कन्हैयालाल।

"आठ महीने पश्चात् एक नये मन्दिर के द्वार पर, जो चमेली देवी का मन्दिर कहलाता था, एक संन्यासी आया। उसने पुजारी से कहा—यदि आप आज्ञा दें, तो मैं भी इसी मंदिर के द्वार पर पड़ा रहा करूँ और भगवान् का भजन करूँ।"

पुजारी ने सहर्ष आज्ञा दे दी। संन्यासी ने मन्दिर के चबूतरे पर आसन जमा दिया। कुछ भोजन मन्दिर से और कुछ पड़ोस के गृहस्थों से मिल जाता था। इस प्रकार संन्यासी चबूतरे पर बैठा रहता और रामायण पढ़कर लोगों को सुनाया करता था।

यह संन्यासी कौन था? वही हमारा पूर्व-परिचित 'अयोध्या प्रसाद।'

केवल अन्तिम पंक्ति से सारी कहानी का मजा किरकिरा हो गया। लेखक को इतना समझना चाहिये कि पाठक भी कुछ समझ सकते हैं। सभी बातों का ऐसा स्पष्टीकरण रचना के सौन्दर्य को बिगाड़ देता है। पाठकों की समझदारी पर भी लेखक को विश्वास होना जरूरी है। तब इस तरह की भद्दी भूलें होने की संभावना नहीं रहती।

जब कहानी में रहस्य का निर्वाह करना होता है, तो ऐसी कोशिश बनाये रखनी पड़ती है कि आरंभ में ही पाठक परिणाम की निश्चित कल्पना न कर सकें। परिणाम को छिपाये रखना ही उपादेय है। घटनाएँ माला के फूल की तरह गुँथी हों और उन सबों की गति एक ही ओर हो। रोचकता और नूतनता

का होना आवश्यक है। एक के बाद दूसरी घटनाएँ ऐसी हो जायँ, जो पाठकों के अनुमान के सर्वथा प्रतिकूल हों। यह तभी संभव है, जब कहानी के आरंभ, मध्य और अन्त में विशेष सावधानी से काम लिया जाय। पात्र, जहाँ तक हो सके, कम प्रस्तुत किये जायँ। लेखक अगर प्रतिभाशाली है, तो वह उसी में हृदयस्पर्शिता का मार्मिक पुट चढ़ा सकता है। चूँकि कहानी में पूर्ण विवरण के लिये जगह नहीं रहती, इसलिये ऐसा निर्देश वांछनीय है जो संपूर्ण का सूचक हो। भूमिका बाँधना कला की दृष्टि से कहानी के लिये दोषपूर्ण माना जाता है।

कहानी का आरंभ

कहानी बहुत तरह से आरंभ की जाती है। कुछ कहानियाँ आरंभ की जाती हैं सिद्धान्त विशेष के अनुसार, कुछ दृश्य का वर्णन करके और कुछ पात्र के जीवन का निर्देशात्मक परिचय देते हुए। घटनाएँ उपस्थित कर एवं कथोपकथन आदि द्वारा भी कहानी आरंभ की जाती है। कहानी को आरंभ करते हुए यह न भूलना चाहिये की शुरू में ही आकर्षण का रंग चढ़ा हो, ताकि आदि से अन्त तक पाठकों की रुचि एक-सी बनी रहे। कहानी का शुरू ही उसकी अच्छाई का खासा सबूत है। यदि आरंभ भद्दा हो, तो भीतर लाख सुन्दरता होने पर भी कोई उसे नहीं पढ़ते। इस तरह लेखक भी असफल होता है, और उसकी कहानी भी लोकरंजन नहीं कर पाती। कहानी आरंभ करने की कुछ मुख्य पद्धतियों के नमूने आगे दिये जाते हैं।

(१) सिद्धान्त-विशेष के अनुसार—

"कुटी के लिये एक छोटा-सा दीपक काफी है, और मनुष्य-जीवन के लिये एक छोटी-सी बात—परिवर्तन के प्रकाश में अंधकार के परिचित मुस्कुराते हैं, आँखें मिलती हैं, बातें खुलती हैं और एक महान् क्षण में संसार बदल जाता है। एक जरा-सी नजर, एक छोटी-सी आह, एक उड़ती हुई मुस्कान—दुनिया की इन्हीं छोटी-छोटी बातों में तो उसकी आत्मिक शक्ति भरी है—कलेजे में ये छुरी-सी तैर जाती हैं, आत्मा कसक उठती है, दिल के साथ ही साथ जमीन-आसमान एक नये रंग में खिल उठते हैं और हम आश्चर्य से कह उठते हैं—अरे, यह क्या ?"

"परिवर्तन"—वीरेश्वर सिंह।

(२) दृश्य उपस्थित कर :—

"वन्य कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकंपित होकर चारों ओर झूल रही थीं। छोटे-छोटे झरनों की कुल्याएँ कवराती हुई बह रही थीं। लता-वितानों से ढँकी हुई प्राकृतिक गुफाएँ शिल्प-रचना पूर्ण सुंदर प्रकोष्ठ बनातीं, जिनमें पागल कर देनेवाली सुगंध की लहरें नृत्य करती थीं। स्थान-स्थान पर कुंजों और पुष्प-शय्याओं का समारोह, छोटे-छोटे विश्राम-गृह, पान-पात्रों में सुगंधित मदिरा, भांति-भांति के सुस्वादु फलवाले वृक्षों के झुरमुट, दूध और मधु की नहरों के किनारे गुलाबी बादलों का क्षणिक विश्राम। चाँदनी का निभृत रंग-मंच,

पुलकित वृक्ष, फूलों पर मधुमक्खियों की भन्नाहट, रह-रहकर पक्षियों की हृदय में चुभनेवाली तानें। मणिदीपों पर लटकती हुई मुकुलित मालाएँ। उस पर छँटे हुए सौंदर्य के जोड़े! रूपवान् बालक और बालिकाओं का हृदय-हारी हास-विलास। संगीत की अबाध-गति में छोटी-छोटी नावों पर उनका जल-विलास! किसकी आँखें यह सब देखकर नशे में न हो जायँगी, हृदय पागल, इन्द्रियाँ विकल न हो रहेंगी? यही तो स्वर्ग है!"

—"स्वर्ग के खण्डहर में"—'प्रसाद'।

(३) पात्र के जीवन का परिचय :—

"मुरादाबाद में मेरे एक पुराने मित्र हैं, जिन्हें दिल में तो मैं एक रत्न समझता हूँ; पर पुकारता हूँ ढपोरसंख कहकर और वे बुरा भी नहीं मानते। ईश्वर ने जितना उन्हें हृदय दिया है, उसकी आधी भी बुद्धि दी होती तो आज वह कुछ और होते! उन्हें हमेशा तंग-दस्त ही देखा; मगर किसीके आगे कभी हाथ फैलाते नहीं देखा। हम और वह बहुत दिनों तक साथ पढ़े हैं, खासी बेतकल्लुफी है, पर यह जानते हुए भी, कि मेरे लिये सौ-पचास रुपये से उनकी मदद करना कोई बड़ी बात नहीं और मैं बड़ी खुशी-खुशी से करूंगा, कभी मुझसे एक पाई के रवादार न हुए। अगर हीले से बच्चों को दो-चार रुपये दे देता हूँ, तो बिदा होते समय उसकी दुगुनी रकम के मुरादाबादी बर्त्तन लादने पड़ते हैं। इसलिये, मैंने यह नियम बना लिया है

कि जब उनके पास जाता हूँ तो दो—एक दिन में जितनी बड़ी से बड़ी चपत दे सकता हूँ, देता हूँ। मौसिम में जो महँगी से महँगी चीज होती है, वही खाता हूँ और माँग-माँगकर खाता हूँ; मगर दिल का ऐसा बेहया है, कि एकबार भी अगर उधर से निकल जाऊँ और उससे न मिलूँ, तो बुरी तरह डाँट बताता है।"

—"डपोरसंख"—प्रेमचंद।

(४) घटनाएँ सामने लाकर :—

"मुश्किल से रात के साढ़े नौ बजे होंगे, पर संथाल परगने के उस जंगली प्रांतवाली सड़क पर भीषण सन्नाटा छा चुका था। सड़क के नीचे सघन वृक्षों के अंधेरे में अस्त्र-शस्त्र लिये आठ-दस आदमी चुपचाप बैठे किसी शिकार की प्रतीक्षा कर रहे थे। इतने ही में दूर से एक मोटर आती दिखाई पड़ी। सबके सब खड़े होगए। पास ही एक सूखी-सी बड़ी डाल पड़ी थी। उसको उठाकर उन्होंने सड़क पर फेंक दिया। मोटर बड़ी तेजी से भागी आरही थी। पर उस जगह आकर उसे रुक जाना पड़ा। उस पर केवल तीन आदमी थे—पिछली सीट पर एक सुन्दर नवयुवक और एक सुन्दरी नवयुवती तथा अगली पर ड्राइवर। गाड़ी जैसे ही रुकी वैसे ही घेर ली गयी। कुछ लोग ड्राइवर पर टूट पड़े, कुछ लोग उस सुकुमार नवयुवक पर! ड्राइवर घायल होकर जमीन पर गिर पड़ा, युवक भयभीत होकर चीख उठा और बेचारी सुन्दरी बेहोश हो गई।"

—"प्रेम का सौदा"—'द्विज'।

(४) कथोपकथन :—

"श्यामाचरण ने प्रसन्नमुख होकर गिरधारीलाल से कहा—'चलो, यह बहुत उत्तम बात हुई कि युनिवर्सिटी में भी हमारा-तुम्हारा साथ रहेगा।'

गिरधारीलाल हँसकर बोला—'इससे उत्तम और हो ही क्या सकता है? सच मानना, मैं तो ईश्वर से यही प्रार्थना कर रहा था कि यदि फेल हों, तो दोनों हों और पास हों, तो दोनों हों।'

श्यामाचरण ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—'अच्छा, यदि तुम पास हो जाते और मैं फेल हो जाता, तो?'

'मुझे अपने पास होने का बहुत अफसोस होता' गिरधारीलाल ने गंभीर होकर उत्तर दिया।

श्यामाचरण ने अट्टहास करते हुए कहा—'पास होने पर अफसोस होना एक बड़ी विचित्र बात है।'

'निस्सन्देह दूसरों के लिये तो यह विचित्र ही है, परन्तु हमारे तुम्हारे लिये इसमें कोई विचित्रता नहीं। अच्छा, यदि मैं फेल हो जाता और तुम पास हो जाते, तो क्या तुम्हें अपने पास होने पर प्रसन्नता होती?' गिरधारीलाल ने पूछा।

'कदापि नहीं, ऐसा कभी हो ही नहीं सकता' श्यामाचरण ने उत्तर दिया।"

—'अभिन्न'—'कौशिक'।

प्रारंभ की और भी प्रणाली हो सकती है, किन्तु, कथा-साहित्य के स्वाध्याय से इन्हीं पाँच प्रकार की प्रणालियों की प्रधानता देखी जाती है। सच तो यह है कि कहानी किसी भी प्रणाली से प्रारंभ की जाय, यदि लेखक में प्रतिभा है, तो वह अन्त तक उसका निर्वाह सफलतापूर्वक कर सकता है अथवा कोई नयी ही प्रणाली ईजाद कर सकता है, जो इनकी अपेक्षा अधिक आकर्षक हो। यों तो कहानी शुरू से आखीर तक एक-जैसी आकर्षक होनी चाहिये, अन्यथा उसे सफल नहीं कहा जा सकता। किन्तु, सबका दारोमदार आदि पर है। लोग आन्तरिक गुणों के सौन्दर्य को पीछे देख पाते हैं, वाह्य सौन्दर्य पहले आकृष्ट करता है। कहानी आगे चलकर सुन्दर हो सकती है, पर उसका प्रारंभ देखकर हो यदि जी न लगे, तो भीतरी सौन्दर्य किस काम का? जिस प्रकार मुखमंडल की कान्ति से प्रेम की प्रेरणा होती है, प्रेम का सच्चा स्वाद बहुत बाद में मिलता है, उसी प्रकार कहानी में भी जानें। पहले प्रारंभ ही ऐसा होना चाहिये, जो लोक-रुचि को बरबस अपनी ओर आकर्षित करे और तब तक न हटने दे, जब तक कि कहानी खत्म नहीं हो पाती।

कहानी में प्रभाव की एकता (Unity of Impression) का होना आवश्यक है। प्रभाव की एकता के लिये क्रमबद्ध घटनाएँ वर्णित होनी चाहिये, अर्थात् जिन घटनाओं पर कहानी का विकास अवलंबित है, वे शृंखलाबद्ध हों। यदि घटनायें एक दूसरे से संलग्न नहीं हैं अथवा अपनी परिसमाप्ति के केन्द्र की

ओर न चलकर इधर-उधर उलझ जाती हैं, तो प्रभाव की एकता कहानी में नहीं आ सकती और न वह कहानी ही सुंदर हो सकती है। कहानी का दायरा बहुत ही संकीर्ण होता है। इसमें भावों के शृंगार की सजावट की कोई आवश्यकता नहीं होती। जो सजावट को सुंदरता का सहायक मानते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। कहानी में कहने की बात, प्रकट करने का विषय नपे-तुले शब्दों में, सरल-सीधी भाषा में कह देना चाहिये। घटनाओं की बाबत भी यही बात है। कुशल कलाकार अपने भावों का शृंगार कदापि नहीं करते। बहुत थोड़े ही में वे मूल प्रभाव की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं; अगर उनके वाक्य उनके मनोभावों को व्यक्त नहीं कर पाते, तो जानिये पहले ही कदम में वे चूक गये। *

---

* "a skilful literary artist has constructed a tale. If wise, he will not fashion his thoughts to accommodate his incidents, but having conceived with deliberate care a certain unique or single effect, to be wrought out, he then invents such events as may best aid him in establishing this preconceived effect. If his very initial sentence tend not to the out-bringing of this effect, then he has failed in his first step'—Edgar Allan Poe.

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण कहानी का प्रमुख और अनिवार्य अंग है। मानव-चरित्र की मौलिक एवं अद्भुततापूर्ण अभिव्यक्ति ही चरित्र-चित्रण है। मानवों के मनोभाव, उनके उद्देश्य, आदर्श, उनकी प्रकृति, उनके आचरण द्वारा ही प्रकट होती है। रचनाओं में इन्हीं आचरणों को सुन्दर ढंग से रखकर किसी मनुष्य का जो सम्पूर्ण-सा स्वरूप प्रकट किया जाता है, साहित्य में उसी सृष्टि का नाम चरित्र-चित्रण है। जिस प्रकार रूप, रंग और स्वास्थ्य आदि सभी दृष्टियों से सुन्दर होते हुए भी गूंगे मनुष्य वेकार-से होते हैं, उसी-प्रकार चरित्र-चित्रण की सफलता के बिना समूची रचना ही बेकार हो जाती है। संसार में हम मनुष्यों को प्रतिदिन देखते हैं, उसके लिये हमें कोई बड़ी उत्सुकता नहीं रहती। यह एक साधारण-सी बात है। किन्तु, साहित्य का मनुष्य हमारे स्मृति-मंदिर में चिरस्थायी रूप से स्थापित हो जाता है। उसका

कोई खास गुण या दुर्गुण, चाहे नम्रता, दया या त्याग हो, चाहे दुष्टता, क्रोध या छिछोरापन हो, उसे हमारे सामने अमर बनाये रहता है। इसीलिये साहित्य में चरित्र-चित्रण का विशिष्ट स्थान है, साहित्य के दर्पण में चरित्र की जो छबि प्रतिबिंबित होती है, वह अमिट होती है।

वस्तु और पात्र का संबंध

यह बात बहुत अंशों में सत्य है कि पात्र की प्रधानता न होने से भी कहानी सुन्दर बन सकती है। कहानी दोनों तरह की हो सकती है—पात्र-प्रधान भी और वस्तु-प्रधान भी, और दोनों ही मनोहारी हो सकती हैं, बशर्ते कि कलाकार की सर्वतोमुखी प्रतिभा उसे उसी रूप में खिला सके। किन्तु, सफल कहानी उसे ही कहेंगे, जिसमें समुचित रूप से वस्तु और पात्र दोनों ही का निर्विरोध निर्वाह हो। वस्तु और पात्र का संबंध काया-छाया जैसा है। दोनों अलग-अलग हैं, पर दोनों का पारस्परिक संबंध बहुत गहरा है। पात्रों के चरित्र के लिये घटनाओं की सृष्टि अनिवार्य है; क्योंकि घटनाओं के संघर्ष के बिना चरित्र का सुन्दर विकास नहीं हो सकता। मानव-जीवन में जो भी हमारे सामने आते हैं, भाव लिये नहीं, कार्यों में भाव की तस्वीर लिये। हम किसी भी व्यक्ति को उसकी मानसिक भावनाओं द्वारा ही नहीं पहचान पाते। यद्यपि किसी की महत्ता उसकी भावनाओं पर ही निर्भर करती है किन्तु, वास्तव में मनुष्य के मानसिक भावों की आरसी है, उसके आचरण। उसके नाना कार्यों द्वारा

हम प्रकृत उसको पहचान पाते हैं। अतः, चरित्र-सृष्टि के वस्तु को हम किसी भी हालत में बाद नहीं दे सकते। अगर इनमें से हम किसी एक को प्रधानता देते हैं, तो दूसरा अंग भद्दी तौर पर अपूर्ण रह जाता है। जहाँ वस्तु-विन्यास पर कलाकार की शक्ति केन्द्रित हो जाती है, वहाँ चरित्र-चित्रण पुष्ट नहीं हो पाता; और यदि चरित्र-चित्रण पर अधिक ध्यान दिया जाता है, तो वस्तु-विधान न होने की वजह से कहानी की सुन्दरता नष्ट हो जाती है। अतएव कलाकार को इस ओर सदैव सतर्क रहना चाहिये, जिसमें वस्तु और पात्र का पारस्परिक विरोध कदापि न उपस्थित हो।

जो व्यक्ति वस्तु और पात्र का समान सफल निर्वाह करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे अपने चरित्र की मनोवृत्ति को उसकी बाह्याभिव्यक्ति के साथ तौलकर देख लें। जिन भावों और जिन घटनाओं से लेखक संपूर्ण अपरिचित रहता है, जिनसे कभी उसका साक्षात्कार नहीं हुआ रहता, यदि वैसी ही बातों पर कहानी की नींव डाली जाती है, तो वह महत्वहीन है। पात्रों के लिये वैसी ही परिस्थितियाँ प्रस्तुत की जायँ, जिन्हें कम से कम व्यक्तिगत जीवन में लेखक अनुभव कर चुका हो। पात्र में निजी व्यक्तित्व का होना अनिवार्य है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि जीवन के गूढ़तत्त्वों, निगूढ़ भावों, चरित्र विशिष्टताओं तथा उद्देश्यों आदि की सर्वांगसुन्दर अभिव्यक्ति के लिये उनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन से काम लिया जाय।

जीवन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

मनोविज्ञान की सहायता लिये बिना मनस्तत्व की व्याख्या संपूर्ण-सुन्दर नहीं हो सकती।

मानव-मन भावों का संघर्ष-स्थल है। किसी भी कार्य के पहले एक बार मन में परस्पर दो विरोधी भावों का संघर्ष होता है। किसीकी कोई वस्तु देख जब हमें उसकी लालसा होती है, तो हमारी विचार-धाराएँ दो विपरीत दिशाओं में दौड़ती हैं—एक हमारी लालसा को उत्तरोत्तर भड़काती है और दूसरी उस ओर से विरत करना चाहती है। जो पक्ष सबल होता है, उसीकी जीत होती है। गरज यह कि भावों के पारस्परिक संघर्ष से जिस भाव अथवा अनुभूति को विजय प्राप्त होती है, मनुष्य उसीकी प्रेरणा से कार्य में प्रवृत्त होता है। इसीलिये, चरित्र के विकास के लिये विरुद्ध भावों की अवतारणा करनी पड़ती है। सचमुच, चरित्र का विश्लेषण मनस्तत्व से अधिक स्वाभाविक एवं आकर्षक बन पड़ता है। तब लेखक दो तरह से चरित्र का विकास करते हैं—विश्लेषणात्मक अथवा भावगत (analytic or Idealistic)। वे यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि मनुष्य कार्य किस उद्देश्य से करते हैं। यह वस्तु-तांत्रिकों की प्रणाली है कि वे उद्देश्य पर दृक्‌पात न करके, मनुष्य के मानसिक भाव उसे जिस ओर ले जाते हैं, उसीका यथावत् चित्र खींच देते हैं। लेकिन, आदर्शवादी (Idealist) लेखक यथार्थवादी (Realist) लेखकों से भिन्न विचार रखते हैं—वे साहित्य में सदाचार के उपासक होते हैं और इसीलिये ऐसे

स्थानों पर, जहाँ मनुष्य की आत्मा उत्पात करती है और क्रमशः पशुता की ओर अग्रसर होती है, वहाँ वे अपनी कल्पना की सहायता से सत्य-सुन्दर की प्रतिष्ठा करते हैं। समय-समय पर वे कल्पना को ही वास्तव-सत्य साबित करते हैं।

चरित्र को सामने लाने के लिये लेखक अक्सर दो प्रकार की प्रणालियों की सहायता लेते हैं; प्रथम विश्लेषणात्मक और द्वितीय अभिनयात्मक। विश्लेषणात्मक प्रणाली वह है, जिसमें लेखक अपनी ओर से पात्रों के मनोभावों की व्याख्या करता चलता है। उसी व्याख्या में वह पात्रों के कथनों, भावों और व्यापारों से भी उसे प्रस्फुटित करता है। दूसरी प्रणाली अभिनय के सहारे चलती है। पात्र स्वयं अपने चरित्र का विकास करते हैं। लेकिन, प्रणाली चाहे जो और जैसी भी हो, लेखक जब तक अंतर्वृत्तियों और उसकी बाह्याभिव्यक्ति का सामंजस्य नहीं देख लेता, तब तक सफलता मिल ही नहीं सकती। कहानी के लिये नाटकीय ढंग बहुत उपयुक्त है, क्योंकि पात्र मूक और निर्जीव के बजाय सजीव प्रतीत होते हैं, पात्रों के जीवन को प्रस्फुटित करनेवाली घटनाएँ प्रगतिशील मालूम पड़ती हैं। परन्तु, इसमें कुछ कठिनाई भी है। परिस्थिति के अनुकूल कार्य एवं कथोपकथन की स्वाभाविकता पर ध्यान रखना जरूरी है, अन्यथा प्रभाव उलटा ही पड़ता है।

भारतीय विद्वानों ने मानव-प्रकृति के अनुसार ही साहित्य में चरित्र के भेद किये हैं। प्रकृति तीन तरह की होती है—सात्विक,

राजस और तामस। भारतीय मनीषियों ने इन्हीं प्रकृतियों के आधार पर आदर्श-चित्रण और सामान्य-चित्रण, चरित्रों के ये दो भेद किये हैं। आदर्श-

चरित्र के भेद

चित्रण में सात्विक और तामस प्रकृति के मनुष्यों का चित्रण आता है और सामान्य-चित्रण में व्यक्ति विशेष तथा समुदाय-विशेष का सामान्य चित्रण। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार भी चरित्र के दो ही प्रकार हैं, पर उनके प्रकार हमारे भारतीय चित्रण से सर्वथा भिन्न हैं। उनका पहला प्रकार उन पात्रों का है, जो परिवर्तन के प्रभाव में पड़कर बदल जाते हैं; दूसरे प्रकार में वे पात्र आते हैं जो बदलते ही नहीं। यह बताना किसी भी व्यक्ति की शक्ति के बाहर है कि इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है; क्योंकि श्रेठता तो लेखक की योग्यता और प्रतिभा पर निर्भर करती है। जो लेखक प्रतिभासंपन्न हैं, वे दोनों ही प्रकार के चित्रण को अनायास ही मनोहारी एवं प्रभावोत्पादक बना सकते हैं। जो पात्र बदलनेवाले हैं, उनकी परिवर्त्तनशीलता हमें उत्सुक बनाये रखकर आनन्द देती है। हम उसकी विचित्रताओं में उलझ-से जाते हैं। कोई ऐसा कहते हैं कि अपरिवर्त्तनशील पात्रों में शैथिल्य आ जाता है। लेकिन, थोड़ी-सी सतर्कता रखने पर ऐसे पात्र भी कम प्रभावोत्पादक नहीं होते। इस तरह के पात्र प्रस्तुत करने से कहानी में किसी महान् आदर्श का निर्वाह बड़ी खूबी से होता है और तब उसका आदर्श ज्यादा प्रभावशाली बन जाता है। लेकिन यह खयाल रहे, नहीं बदलनेवाली चरित्र-सृष्टि के लिये

घटनाओं की सृष्टि प्रयोजनीय है। जब पात्र के जीवन में घटनाओं का ताता-सा बँध जाता है और पात्र अपने किसी विशेष उद्देश्य पर अविचल रहता है, तो उसमें अपरिवर्त्तनशीलता की जो शिथिलता होती है, वह उसका एक दुर्लभ गुण बन जाती है और शैथिल्य के बजाय हम उसमें एक अभूतपूर्व गति का अनुभव करते हैं। कहानियों के पात्रों में भी जब कोई ऐसा अपरिवर्त्तनशील आदर्श हमें दिखायी देता है, तो हम आनन्द ही उपलब्ध करते हैं। जितनी ही बड़ी कठिनाइयाँ पात्र के जीवन में उपस्थित की जायँगी, चरित्र का विकास उतना ही उत्कृष्ट और कहानी उतनी ही मनोमुग्धकर होगी।

जो पात्र परिवर्तनशील होते हैं, उनके मनोभावों के तारतम्य के लिये भी पूरे संयम की आवश्यकता होती है। ऐसे पात्रों के जीवन की घटनाएँ एक पर एक ऐसी घटती हैं, जो पाठकों की कल्पना के सर्वथा परे हैं, परन्तु उनका विच्छिन्न रूप भी मनोविज्ञान के घटनाक्रम से गलत न हो।

चरित्र-चित्रण की चार प्रमुख पद्धतियाँ देखी जाती हैं; (क) निर्देशात्मक चित्रण, (ख) वर्णनात्मक चित्रण, (ग) कथोपकथनात्मक चित्रण और (घ) घटनात्मक चित्रण। इनमें चौथे यानी घटनात्मक चित्रण का प्रयोग बहुत कम पाया जाता है। इस प्रणाली से कहानीकार अधिकतर इसलिये काम नहीं लेते क्योंकि, इसमें कोई विशेषता नहीं होती। और, यदि इसे भी प्रधान ही मान लें तो एक प्रणाली और भी बढ़ जाती है—वह है पत्र-

पद्धति ; क्योंकि पत्रों में जो कहानियाँ लिखी जाती हैं, उनमें भी आखिर चरित्र-चित्रण तो किया ही जाता है। किन्तु, प्रथम तीन पद्धतियाँ प्रधान हैं। इन पद्धतियों के नमूने नीचे दिये जाते हैं।

(क) निर्देशात्मक चित्रण :—

"बूढ़ों में जो एक तरह की बच्चों की-सी बेशर्मी आ जाती है, वह इस वक्त भी तुलिया में न आई थी, यद्यपि उसके सिर के बाल चाँदी हो गये थे, और गाल लटक कर दाढ़ी के नीचे आ गये थे। वह खुद तो निश्चित रूप से अपनी उम्र न बता सकती थी, पर लोगों का अनुमान था कि वह सौ की सीमा पार कर चुकी है। और अभी तक वह चलती, तो आँचल से सिर ढाँककर, आँखें नीची किये, मानों नवेली बहू है। थी तो चमारिन, पर क्या मजाल कि किसीके घर का पकवान देखकर उसका जी ललचाय। गाँव में ऊँची जातों के बहुत-से घर थे। तुलिया का सभी जगह आना-जाना था। सारा गाँव उसकी इज्जत करता था, और गृहिणियाँ तो उसे श्रद्धा की आँखों से देखती थीं। उसे आग्रह के साथ अपने घर बुलातीं, उसके सिर में तेल डालतीं, माँग में सेन्दूर भरतीं, कोई अच्छी चीज पकाई होती, जैसे हलवा या खीर या पकौड़ियाँ, तो उसे खिलाना चाहतीं, लेकिन बुढ़िया को जीभ से सम्मान कहीं प्यारा था। वह कभी न खाती। उसके आगे-पीछे कोई न था, उसके टोले के लोग कुछ तो गाँव छोड़कर भाग गये थे, कुछ प्लेग और मलेरिया की

भेंट हो गये थे और अब थोड़े से खण्डहर मानों उनकी याद में नंगे सिर खड़े छाती-सी पीट रहे थे। केवल तुलिया की मँडैया ही बच रही थी। और यद्यपि तुलिया जीवन-यात्रा की उस सीमा के निकट पहुँच चुकी थी, जहाँ आदमी धर्म और समाज के सारे बंधनों से मुक्त हो जाता है, और अब श्रेष्ठ प्राणियों को भी उससे जात के कारण कोई भेद न था, सभी उसे अपने घर में आश्रय देने को तैयार थे, पर मानप्रिय बुढ़िया क्यों किसी का एहसान ले। क्यों अपने मालिक की इज्जत में बट्टा लगाये, जिसकी उसने सौ बरस पहले केवल एक बार सूरत देखी थी—केवल एक बार !"

—"देवी"—'प्रेमचन्द'।

(ख) वर्णनात्मक चित्रण :—

"बाकी रह गए वे। उनके विषय में क्या कहूँ ? अत्यन्त हँसमुख आदमी हैं। बात-बात में हँसते और हँसाते हैं। ऐसा मधुर-भाषी, ऐसा सरल-हृदय, ऐसा रौनकी जीव मैंने कभी नहीं देखा। उनके चेहरे पर मुस्कान सदा खेलती रहती है। मानों मुस्कुराता हुआ चित्र हो, जो कभी उदासीन नहीं होता। चित्रकार ने एक बार मुस्कुराते हुए बना दिया, अब सदा मुस्कुरा रहा है। यही अवस्था उनकी है। अपनी भाभी से बहुत प्यार है। आते हैं तो द्वार ही से 'भाभी-भाभी' चिल्लाने लगते हैं। उनकी एक-एक बात की प्रशंसा करते हैं। कहते हैं, ऐसी भाभी शहर भर में किसी की न होगी। भाभी भी उनको

बहुत चाहती हैं। उनकी जरा-जरा सी बात का खयाल रखती हैं। उनके इस प्यार को देखकर मैं किसी दिव्यलोक में पहुँच जाती हूँ। यह भाभी-देवर की मुहब्बत नहीं, माँ-पुत्र का प्यार है। यह सांसारिक नाता नहीं, बहन-भाई का संबंध है। कैसा पवित्र, कैसा उज्ज्वल, कैसा उच्च कोटि का!"

—"एक स्त्री की डायरी"—'सुदर्शन'।

(ग) कथोपकथनात्मक चित्रण :—

"देवकृष्ण अभी कॉलेज से आकर बैठा ही था कि उसकी माँ सामने आ खड़ी हुई और सदा की भाँति आँखों में आँसू भरकर बोली—'मुझे इस तरह कब तक रुलाते रहोगे बेटा?'

बेटा और दिन की तरह आज झुंझलाया नहीं। वह इधर माँ की इस अश्रु-समस्या पर गँभीरता और सहानुभूति के साथ विचार करने लग गया है। निर्णय के निकट अभी तक पहुँचा नहीं, इसीसे साफ-साफ कुछ कह नहीं सकता। 'हाँ' और 'ना' के पंजे में पड़ी छटपटानेवा इच्छा का प्रदर्शन करना सहल नहीं होता। वह सिर झुकाये चुप रहा।

'मैं दिन-रात रोया करती हूँ'—माँ ने बेटे का हाथ पकड़-कर कहा—'यह देखकर भी तुम्हारा दिल नहीं पसीजता?'—उसकी स्नेहभरी आँखें कातरभाव से जैसे किसी अनुकूल उत्तर की भिक्षा माँग रही थीं।

बेटे ने सहानुभूति भरी वाणी को कंपाकर कहा—'यह तो

मेरा दिल ही जानता है माँ! मगर यह तो बताओ, तुम इस तरह रो-रोकर मरी क्यों जा रही हो?'

'इसके सिवा मैं और कर ही क्या सकती हूँ बेटा?' बारम्बार आँचल से आँसू पोंछती हुई माँ कहने लगी—'भगवान् ने मुझे बनाया ही इसीलिये है, मरने की उमर हो आई, अभी तक सुख का मुँह नहीं देख सकी हूँ। तुम पाँच ही महीने के थे, तभी तुम्हारे बाबूजी छोड़कर भाग गये। पर तुम्हारे रहते, मैंने उस दुःख की परवाह न की। तुम मेरी गोद में थे, फिर मुझे कमी किस बात की थी! लेकिन, अब देखती हूँ, तुम भी मुझसे भागे-भागे फिरते हो। पचीस साल से अपने कलेजे के भीतर मैं जिस अरमान को पालती आरही हूँ, उसी को कुचलकर तुम मेरे प्यार का बदला चुकाना चाहते हो। फिर बताओ रोऊँ नहीं तो हँसू कैसे?'

देवकृष्ण की आँखें भी सजल हो आईं। वह एक गंभीर नीरवता में डूब गया।"

—"वे दोनों"—'द्विज'।

सच पूछिये तो इनमें कथोपकथनात्मक ढंग ही सर्वोत्कृष्ट है। इसके द्वारा मानव-जीवन एवं मनोभावों की अभिव्यक्ति सुन्दरता और सरलता से की जा सकती है। वर्तमान कला के रूप में यही चित्रण आदर्श माना जाता है। बात यह है कि पात्रों में जब जीवन की शक्तियाँ आ जाती हैं तो वे अपना वर्णन—चाहे आप ही क्यों न करें—पाठकों के सामने रखने के लिये दूसरे का मुँह नहीं ताकते। यदि वे पाठकों के साथ कल्पना में चल फिर

सकते हैं, तो वे उन्हें अपना परिचय भी दे सकते हैं।❀

यह हम पहले भी कह चुके हैं कि कहानी का दायरा इतना छोटा है कि इसमें न तो मानव समुदाय के जीवन पर प्रकाश

दृष्टिकोण

डालने की जगह रहती है और न इतना ही संभव है कि किसी एक ही जीवन का संपूर्ण चित्र उपस्थित किया जाय। इसका आधार तो जीवन की कोई स्थिति विशेष है, संपूर्ण के सूचक एक निर्देश के बजाय अन्य आडंबर इसके लिये कदापि अपेक्षित नहीं। जिस पात्र को सामने लाया जाय, उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि उसके जीवन के बीते या भविष्य के भागों पर भी प्रकाश डाला ही जाय अथवा उसके कार्य के क्रम पर ध्यान दिया जाय। बल्कि अनिवार्य तो यह है कि एक ही महत्वपूर्ण घटना पर उसका विकास हो। अतः लेखक का दृष्टिकोण चरित्र-चित्रण के लिये अत्यन्त ही संयमित होना जरूरी है।

बहुत सारे लोगों की यह धारणा ही नहीं विश्वास है कि सुन्दर कहानियों के लिये पात्र-पात्रियाँ युवक और युवती हों। आधार के लिये यह सुन्दर भले ही हों, लेकिन इनके बिना कहानी सुन्दर नहीं होती, यह विचार बिलकुल गलत है। कहानी के लिये बूढ़े, बूढ़ी, बच्चे, पशु-पक्षी सभी सुन्दर आधार हैं। चाहे जिस किसी पर मार्के की कहानी लिखी जा सकती है। प्रेमचन्द की 'बूढ़ी काकी,' तुर्गनेव की 'मूमू' आदि कहानियाँ क्या अमर नहीं?

❀ साहित्य-समालोचना।

मोपासाँ की 'चाँदनी रात का पादरी' क्या हमें अभिभूत नहीं करता ? बाहरी रूप-राशि या शरीर-सौष्ठव ही कहानी का मुख्य विषय नहीं जुगा सकता, उसके लिये तो भाव विशेष की आवश्यकता है और कोई मोहकभाव सभी अवस्थाओं में पाये जा सकते हैं, चाहे वह बूढ़ा हो, चाहे बच्चा। बुढ़ापा भी एक ऐसी अवस्था है, जब आदमी अपनी अभिज्ञताओं की पूंजी लिये जीवन के किनारे पर आ उतरता है, तब विश्व के प्रति उसके अपने विचार होते हैं, अपने सिद्धान्त होते हैं। उसका अतीत उसके जी पर कचोट छोड़ जाया करता है, भविष्य का अंधकार और वर्त्तमान की वेदनाएँ उसके मानसपट पर विचित्र भावनाओं की तसवीरें उदय करती हैं। तब जो उसकी प्रकृति में कोई खास खूबी आती है, वह साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है। यही बात बाल-पात्रों के विषय में भी है।

लेकिन, यह भी सत्य है कि कहानी-साहित्य में अक्सर तरुण-तरुणी ही पात्र पाये जाते हैं। यह भी कोई बुरी बात नहीं। यौवन जीवन का वसंत है। इसके उदयकाल में आदमी भावों का विचित्र छाया-चित्र बन जाता है। हृदय में बड़ी-बड़ी उम्मीदें, उत्साह, प्रेम, आकांक्षा आदि भाव घर किये रहते हैं और इन भावनाओं के फलस्वरूप पात्रों के जीवन में परिवर्त्तनशीलता के लक्षण उपस्थित होते हैं। उत्थान-पतन पद-पद पर पाये जाते हैं, जो आकर्षक और प्रभावोत्पादक चरित्र-सृष्टि के लिये बहुत ही उपयुक्त समझे जाते हैं। वरना यह कोई बात नहीं कि रूप-सौष्ठव

के लिये ही युवक-पात्र चुने जायँ। साहित्यकार तो असुन्दर में भी रूप की प्रतिष्ठा करने की खास क्षमता रखता है और तब तो उसकी सुन्दरता में चार चाँद ही लग जाता है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी पंक्तियों में एक ऐसी नारी को अमर बना रक्खा है, जिसकी असुन्दरता कुरूपों की शोभा थी—काली—घोर काली!

कवि ने लिखा है—

"कृष्णकली आमि तारेइं बलि
कालो बले तारे गाँयेर लोक
मेघलादिने देखेछिलाम माठे
कालो मेयेर कालो हरिण चोख
घोमटा माथाय छिलोना तार मोटे
कालो वेणी माथार परे लोटे
कालो, तासे यतोइ कालो होक
देखेछि तार कालोहरिण चोख।"

इस तरह रूप के लिये तो कलाकार को कतई चिन्ता नहीं रहती, चाहे वह जैसा भी रूप-सृष्टि कर सकता है। तब युवक-युवतियों का आधार लेने का अभिप्राय यही है कि उनमें भाव-वैचित्र्य बहुलता से पाया जाता है, जो कला के आधार के लिये बहुत ही उत्तम है।

चरित्र-चित्रण के लिये एक बात और भी विशेष प्रयोजनीय है—प्रस्तुत किये जानेवाले पात्र ऐसे तो कदापि न दीखें कि वे मानव-समाज से कुछ दूर के हैं, बल्कि ऐसे हों कि पाठक जिन्हें

देखकर ही हम-आप-जैसा एक व्यक्ति मान लें और उनके सुख-दुःख से समान रूप से प्रभावित हों। जो पात्र मानव-समाज के सन्निकट के नहीं होते, वे न तो स्वाभाविक होते हैं और न सजीव ही, वरन् एक कल्पना के पुतले हुआ करते हैं। चरित्र-सृष्टि में लेखक के लिये कल्पना अवश्य ही अपेक्षित है; लेकिन इस-लिये कि चरित्र संपूर्ण और सजीव होकर लोगों के सामने उपस्थित हो। अगर चरित्र में पाठकों के लिये भी कल्पना की जगह रह जाती है, तो वह पाठकों के धैर्य खो देने का कारण होता है; इसलिये पात्रों को ठीक हम-आप-जैसे ही व्यक्ति के रूप में लाने के लिये लेखक के अनुभवी होने की आवश्यकता है। उसका निरीक्षण पुष्ट हो। वह मनुष्य की प्रकृति, उसकी परिवर्त्तनशील क्रमिक परिस्थितियों का खास जानकार हो। यही जरूरत होती है, वास्तविक दुनिया से सहारा लेने की, जिसे साहित्य में यथार्थवाद की आख्या दी गयी है। चरित्र की स्वाभाविकता की कुंजी—यही यथार्थवाद है। सकी अवहेलना सफलता से दूर रहना है।

स्वाभाविकता और सजीवता

सच तो यह है कि कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं, अगर हममें पूर्णता होती तो हममें किसी भी तरह की प्रचेष्टाएँ न पायी जातीं। प्रचेष्टा किसी भी प्रकार की कमी पूरी करने की परिचायिका है। मनुष्य-जीवन में व्यस्तता है, हलचल है; इसलिये नहीं कि वह पूर्ण है, वरन् इसलिये कि उसमें त्रुटियाँ भरी पड़ी हैं, उसमें अभावों की भरमार है। वह न तो संपूर्ण सुन्दर है, न संपूर्ण सुखी।

इसके विपरीत वह संपूर्ण दुःखी या असुन्दर भी नहीं है। वह अगर दुःखी है, तो सुख के लिये प्रयत्नशील है; अगर सुखी है, तो दुःख का अनुभव उसके सुख के लिये प्रयोजनीय है। जीवन में जागृति और प्रगति इसी कारण से है। अब यदि लेखक अपने पात्रों को सच्चा और स्वाभाविक बनाना चाहता है तो चरित्र-सृष्टि के लिये उसको इस पूर्णता से दूर ही रहना चाहिये। लेखक अपने पात्रों को अगर सुन्दरता से कहीं भी खाली नहीं देख पाता, तो भी उसकी स्वाभाविकता के लिये उसकी सुन्दरता में उसे अवश्य बट्टा लगाना चाहिये; तभी कला के नाम पर वह कहानी मान्य हो सकेगी। इसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि दुनिया में ऐसे पात्र कहीं न कहीं अवश्य ही मिल जायँगे, जिनकी सुन्दरता में एक तिल दोष न हो; किन्तु साहित्य के लिये इस तरह अपवाद-आधार अच्छा नहीं। अलौकिक जँच जाने से ही पात्र की प्रभावोत्पादक शक्ति क्षीण पड़ जाती है। आये दिन हम जिन मनुष्यों में रहते हैं, जिन्हें आठों पहर देखा करते हैं, उनमें ऐसे नहीं मिला करते। इसी प्रकार यदि चरित्र आदर्श हो, तो भी कला की दृष्टि से सर्वत्र उसका उत्थान ही उत्तम नहीं, उसे भी जबरन पतन की ओर अग्रसर करना उचित है। मनुष्य-जीवन आलोक-अंधकार, सुख-दुःख, उत्थान-पतन का ही सामंजस्य है। जीवन इसलिये होता है, क्योंकि मृत्यु होती है; लोग गढ़े में इस-लिये गिरते हैं, क्योंकि वे ऊँचे उठ सकते हैं। एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व, कोई महत्त्व ही नहीं। हाँ, किसी को कतई

गिरा देना अथवा किसी को उच्चतम चोटी पर ही चढ़ा देना सफलता की सूचना नहीं देता। मनुष्य में यदि गिरने की दुर्वलता है, तो उसमें ऊँचे उठने की शक्ति भी है। इन्हीं दो अवस्थाओं के पारस्परिक संघर्ष अथवा हार-जीत में ही जीवन है। जहाँ कमजोरी उसकी पराजय का परिचय देती है, वहाँ क्षमता उसके गले विजय की वरमाला प्रदान करती है। इसलिये साहित्य में जिन पात्रों को अमर वनाना होता है, उनमें ये दोनों ही अवस्थाएँ स्वाभाविक होनी चाहिये।

लेकिन, चित्रण में जब-जब यथार्थवाद का उपयोग किया जाय, तब-तब इसपर ध्यान रहे कि आदर्शवाद से उसका खास विरोध न हो। कहानी में दोनों ही एक दूसरे के सहायक रूप में रहें, एक दूसरे पर आश्रित हों।

दृश्य

चरित्र के विकास के लिये कहानी में संस्थान-समावेश और दृश्यावली (atmosphere and background) प्रयोजनीय हैं। वस्तुतः इन दोनों विषयों को कथा-साहित्य से अलग कर देने पर कहानी की मोहकता ही जाती रहती है। दृश्य पात्रों को स्वाभाविक, सच्चे और आकर्षक बनाते हैं। घटनाओं की गतिशीलता एकमात्र दृश्यों पर ही निर्भर करती है। पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने में समय और स्थान का स्वाभाविक वर्णन आवश्यकीय है। लेकिन, इसमें पर्यवेक्षण की सहायता लेनी पड़ती है। जैसे पात्र हों, यानी जिस कोटि के हों, उसके अनुकूल समय और स्थान

हो तो उत्तम है। ऐसे मौकों पर नाटकीय ढंग का अनुसरण बहुत ही लाभदायक माना जाता है—जैसे पात्रों का अकस्मात् प्रवेश करा देना। पाठक पहले तो उस साधारण वर्णनशैली या घटनाक्रम पर लेखक की भावधारा के साथ बहता चलता है कि उन्हें विस्मित-चकित करते हुए एकाएक अन्य पात्र सामने आ जाते हैं। यह ध्यान में रहे कि यों अकस्मात् आनेवाले पात्र स्थायी चरित्र को महत्त्वपूर्ण बनाने में ही सहायक हों, न कि कुछ पन्ने व्यर्थ के रंग देने के साधन-मात्र। इसमें मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है, घटनाओं की गतिवृद्धि होती है और स्वभाव तथा प्रभाव का खासा निर्देश किया जा सकता है।

उदाहरणार्थ आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'पानवाली' कहानी ली जाय। नाटकीय ढंग के अनुसरण से कहानी में कैसी सजीवता आ गयी है; पात्र के स्वभाव और प्रभाव का परिज्ञान किस खूबी से कराया जाता है, एवं घटनाएँ कैसी प्रगतिशील हो जाती हैं।

"इस उल्लसित आमोद के बीचोबीच एक मुर्झाया हुआ पुष्प, कुचली हुई पान की गिलौरी—वही बालिका—बहुमूल्य हीरे-खचित वस्त्र पहिने बादशाह के बिलकुल अंक में लगभग मूर्छित और अस्त-व्यस्त पड़ी थी। रह-रहकर शराब की प्याली उसके मुँह से लग रही थी और वह खाली कर रही थी। एक निर्जीव दुशाले की तरह बादशाह उसे अपने बदन से सटाए मानों अपनी तमाम इन्द्रियों को एक ही रस में सराबोर कर रहे थे। गंभीर आधी रात बीत रही थी। सहसा इसी आनन्द-वर्षा में बिजली

गिरी। कक्ष के उसी गुप्त द्वार को विदीर्ण कर क्षण भर में वही रूपा काले आभूषण से नख-शिख ढंके निकल आयी। दूसरे क्षण में एक और मूर्त्ति वैसे ही आवेष्टन में गुप्त द्वार से बाहर निकली। क्षण भर बाद दोनों ने अपने आवेष्टन उतार फेंके। वही अग्नि-शिखा ज्वलन्त रूपा और उसके साथ गौरांग कर्नल !!"

हिन्दी में साधारण-स्वाभाविक दृश्यों के वर्णन में प्रेमचन्द तथा प्राकृतिक दृश्य वर्णन में जयशंकर प्रसाद को असाधारण सफलता मिली है। इन दोनों ही अमर कलाकारों की पर्यवेक्षण शक्ति गजब की थी। बादशाहत के जमाने की ठाठ-बाट चतुरसेन शास्त्री ने अच्छी दिखायी है।

पात्रों के अनुसार उनके निवास आदि का वर्णन होना जरूरी है। किसी गरीब का चरित्र-विकास उसके फूस के घर, सामने ठूठे बरगद का पेड़, दूर पर बरसाती खाई के सामने की हरियाली ही अधिक उपयोगी साबित होंगी। फिर समय और स्थान के अनुकूल राजा, बादशाह या मध्यमवर्ग के चरित्र के लिये उन्हीं के उपयोगी विषयों और दृश्यों का वर्णन होना चाहिये। ऑस्कर-वाइल्ड इतने पत्थरों और इतने फूलों का नाम गिना सकता था कि जिसकी हद नहीं। राजा राधिकारमण सिंह बड़े-बड़े होटलों और ऐशो-इशरत के सारे आवश्यकीय सरो-सामान का खासा वर्णन उपस्थित कर सकते हैं; तदनुसार दृश्यों के भी। इसलिये लेखक दृश्यों को जब-जब उपस्थित करे—स्थान, स्थिति और पात्र को अवश्य ही ध्यान में रक्खे। इसके बिना न तो वह घटनाएँ

सृष्टि कर सकेगा, और न उनमें गति लाने के लिये अच्छे दृश्य ही उपस्थित कर सकेगा।

रूप, आचार और शिष्टाचार आदि के वर्णनों में, यदि उस में स्वाभाविकता हो, तो वह शक्ति है जिससे पात्रों की हृदय-स्पर्शिता अत्यन्त बढ़ जाती है। चरित्र का प्रभाव इनकी सहायता से पाठकों के हृदयों पर ऐसा गहरा पड़ता है कि कभी मिटने का नहीं। चरित्र की सफलता की यह एक अच्छी कसौटी है। चित्रण में जब ऐसा जादू चढ़ जाता है कि पात्रों के गुण-दोषों से हम अपने गुण-दोषों को मिलाकर उनके सुख-दुःख से सुखी-दुःखी होवें, या उनसे एक प्रकार की अज्ञात आत्मीयता बोध करें, तो समझना चाहिये कि लेखक अपने प्रयास में असफल नहीं रहा। कला की उत्तमता की यही परख है। एक बात और, चरित्र को विकसित करने के लिये जिन पात्रों की सहायता ली जाय (यानी सहायक पात्रों की) उनकी संख्या भरसक न्यून हो ; और जो हों भी, वे निर्देशमात्र हों—पूरे जीवन-चरित्र नहीं। अन्यथा मुख्य वक्तव्य विषय गौण और गौण ही मुख्य बन जाते हैं।

चरित्र का प्रभाव

चरित्र के प्रभाव के लिये हमें यह देखना चाहिये कि पात्र का जो दोष है, वह हमें अपनी ओर आकर्षित करने के बजाय हमें विरत करता है या नहीं ? दुर्गुणों से हमें घृणा होनी चाहिये और सद्गुणों पर आसक्ति। चित्रण की सफलता इससे भली प्रकार तौली जा सकती है।

लेखन-पद्धति

कहानी लिखने की मुख्यतया चार पद्धतियाँ हैं—(१) आत्म-कथा पद्धति, (२) पत्र-पद्धति, (३) ऐतिहासिक पद्धति और (४) कथोपकथन पद्धति।

(१) आत्मकथा पद्धतिः—"जब मेरा ब्याह हुआ, उस समय मेरी आयु बारह वर्ष से अधिक न थी। मुझे मालूम न था कि ब्याह क्या होता है, न मुझे इस शब्द के अर्थों का बोध ही था। मगर मैं फिर भी खुश थी। इसलिये नहीं कि मेरा ब्याह हो रहा है, बल्कि इसलिये कि पहनने को सुन्दर आभूषण और वस्त्र मिलेंगे, और खाने को मिठाइयाँ। मेरे लिये यह सौभाग्य ब्याह से भी बढ़कर था। मेरे पाँव पृथ्वी पर न पड़ते थे। चारों तरफ दौड़ती फिरती थी और खिलखिलाकर हँसती थी। मुझे क्या पता था, क्या हो रहा है। समझती थी कोई तमाशा है, जिसका नाम ब्याह है। कुछ दिनों तक घर में खूब रौनक रही, फिर उदासी छा

गयी। वह दिन आज भी याद आता है, तो सिर चकराने लगता है।

तीसरे पहर को वेला थी, मैं एक पालकी में बैठी सखी-सहेलियों के गले लग-लगकर रो रही थी। इसलिये नहीं कि मुझे रोना आता था, बल्कि इसलिये कि मेरी सखी-सहेलियाँ रोती थीं। मैं उनके रोने का कारण नहीं जानती थी; परन्तु इतना जरूर जानती थी कि इस समय मुझे भी रोना चाहिये, और मैं अपने इस अज्ञात कर्तव्य को अपनी देह और आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति से पूरा कर रही थी। मेरी सहेलियाँ एक-एक करके आती थीं, और मैं उनके गले से लिपट-लिपटकर रोती थी। सबके बाद मेरे पिता आये। उनकी आँखें रो-रोकर लाल हो रही थीं, चेहरा पीला जर्द। उन्होंने मुझे बड़े जोर से गले लगा लिया और सिसक-सिसककर रोने लगे। इस समय तक मेरा खयाल था कि केवल स्त्रियाँ ही रो रही हैं, अब पता लगा कि पुरुष भी रो रहे हैं। खयाल आया, ब्याह अच्छी वस्तु नहीं; पहले मिठाई खाने को मिलती है, फिर रोना पड़ता है। मगर अब क्या हो सकता था? मैंने बाप को रोते देखा, तो और भी जोर-जोर से रोने लगी। मेरे बाप ने मेरे सिर पर हाथ फेरकर कहा—"बेटी धीरज धरो, मैं तुम्हें जल्द बुलवा लूँगा।" —"अन्धेर"—'सुदर्शन'।

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि आत्मकथा पद्धति के अनुसार कहानी जीवन-चरित्र के रूप में सामने आती है, अर्थात् लेखक को प्रथम पुरुष यानी 'मैं' के अनुसार कहानी का विकास

दिखलाना पड़ता है। इस प्रकार कहानीकार कहानी के किसी पात्र से अपना संबंध स्थापित कर लेता है। परन्तु, इस पद्धति का अवलम्बन कर कलाविद् को पूरी सफलता कदापि नहीं मिल सकती। हाँ, रोचकता की मात्रा उसमें आ सकती है और पाठक के हृदय को यह आकृष्ट भी कर सकती है; परन्तु कहानी की सुन्दरता को सुन्दरतापूर्वक दिखाया नहीं जा सकता और न उसके भिन्न-भिन्न अङ्गों पर ही भली प्रकार से प्रकाश डाला जा सकता है। क्योंकि, 'मैं' जो कहानी कहता चलता है, उसके सभी तत्त्वों को समुचित रूप से प्रकाश में नहीं ला सकता। इसलिये नहीं कि उन तत्त्वों से वह परिचित नहीं, उन तत्त्वों का उसे ज्ञान नहीं, वरन् इसलिये कि उसके मार्ग में यह ढंग बाधा-स्वरूप होता है। अकारण ही ढंग की मर्यादा को कायम रखने के लिये लेखक को अपने भावों की हत्या करनी पड़ती है। यदि नियम का उल्लंघन किया जाय, तो कहानी भद्दी और असंगत हो जाती है तथा लेखक की अपटुता एवं असावधानता को सामने रखती है। कभी-कभी 'मैं' को सभी तत्त्वों का ज्ञान भी नहीं होता। वह ऐसे कि जो भाव दो-चार पात्रों के सम्मिलन से प्रस्तुत होता है, वह इसकी नजरों में नहीं पड़ पाता। और भी कितनी ऐसी घटनाओं का, जो कहानी की सुन्दरता की वृद्धि में काफी मदद दे सकती हैं, उल्लेख करना नहीं भी पड़ता है—जैसी घटनाएँ जो पात्र की पहुँच के बाहर घटित हों। सारांश यह कि इस ढंग के द्वारा सर्वोत्कृष्ट कहानी का निर्माण नहीं हो

सकता। तब प्रकार भी साहित्य के शृंगार के लिये अनिवार्य है। अतः, बड़ी सावधानी से यदि इस ढंग की कहानी लिखी जाय, तो बेजा नहीं। यह याद रहे कि किसी भी प्रकार के नियम या कानून भलाई के खयाल से बनाये जाते हैं। जहाँ कानून के पालन से बुराई हो, वहाँ उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

(२) **पत्र-पद्धतिः**—इस पद्धति के अनुसार कतिपय पात्रों की क्रमबद्धता ही कहानी बन जाती है। पात्रों में पात्र के चरित्र एवं घटनाओं का विकास दिखाया जाता है। यथा—

"मेरे जीवनधन, दो सप्ताह जवाब की प्रतीक्षा करने के बाद आज फिर यह उलाहना देने बैठी हूँ। जब मैंने वह पत्र लिखा था, तो मेरा मन गवाही दे रहा था कि उसका उत्तर जरूर आयगा। आशा के विरुद्ध आशा लगाये हुई थी। मेरा मन अब भी इसे स्वीकार नहीं करता कि आपने जान-बूझकर उसका उत्तर नहीं दिया। कदाचित् आपको अवकाश नहीं मिला, या ईश्वर न करे, कहीं आप अस्वस्थ तो नहीं हो गये। किससे पूछूँ? इस विचार से ही मेरा हृदय काँप रहा है। मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि आप प्रसन्न और स्वस्थ हों, मुझे पत्र न लिखें न सही, रोकर चुप ही तो हो जाऊँगी। आपको ईश्वर का वास्ता है। अगर आपको किसी प्रकार का भी कष्ट हो, तो मुझे तुरन्त पत्र लिखिये, मैं किसी को साथ लेकर आ जाऊँगी। मर्यादा और परिपाटी के बंधनों से मेरा जी घबड़ाता है। ऐसी दशा में भी यदि आप मुझे अपनी सेवा से वंचित रखते हैं, तो आप मुझसे

मेरा वह अधिकार छीन रहे हैं, जो मेरे जीवन की सबसे मूल्यवान् वस्तु है। मैं आपसे और कुछ नहीं माँगती। आप मुझे मोटे से मोटा खिलाइये, मोटे से मोटा पहनाइये, मुझे जरा भी शिकायत न होगी। मैं आपके साथ घोर से घोर विपत्ति में भी प्रसन्न रहूँगी। मुझे आभूषणों की लालसा नहीं, महल में रहने की लालसा नहीं, सैर-तमाशे की लालसा नहीं, धन बटोरने की लालसा नहीं। मेरे जीवन का उद्देश्य केवल आपकी सेवा करना है। यही उसका ध्येय है। मेरे लिये दुनिया में कोई देवता नहीं, कोई गुरु नहीं, कोई हाकिम नहीं। मेरे देवता आप हैं, मेरे गुरु आप हैं, मेरे राजा आप हैं। मुझे अपने चरणों से न हटाइये, मुझे ठुकराइये नहीं। मैं सेवा और प्रेम के फूल लिये, कर्तव्य और व्रत की भेंट अंचल में सजाये, आपकी सेवा में आयी हूँ। मुझे इस भेंट को, इन फूलों को, अपने चरणों पर रखने दीजिये। उपासक का काम तो पूजा करना है। देवता उसकी पूजा स्वीकार करता है या नहीं, यह सोचना उसका धर्म नहीं।

मेरे सिरताज, शायद आपको पता नहीं आजकल मेरी क्या दशा है। यदि मालूम होता तो आप इस निष्ठुरता का व्यवहार न करते। आप पुरुष हैं, आपके हृदय में दया है, सहानुभूति है, उदारता है; मैं विश्वास नहीं कर सकती कि आप मुझ-जैसी नाचीज पर क्रोध कर सकते हैं। मैं आपकी दया के योग्य हूँ—कितनी दुर्बल, कितनी अपंग—कितनी बेजुबान। आप सूर्य हैं, मैं अणु हूँ; आप अग्नि हैं, मैं तृण हूँ; आप राजा हैं, मैं भिखारिन

हूँ। क्रोध तो बराबरवालों पर करना चाहिये, मैं भला आपके क्रोध का आघात कैसे सह सकती हूँ। अगर आप समझते हैं कि मैं आपकी सेवा के योग्य नहीं हूँ, तो मुझे अपने हाथों से विष का प्याला दे दीजिये। मैं उसे सुधा समझकर सिर और आँखों से लगाऊँगी और आँखें बन्द करके पी जाऊँगी। जब यह जीवन आपकी भेंट हो गया, तो उसे मारें या जिलायें, यह आपकी इच्छा है। मुझे यही सन्तोष काफी है कि मेरी मृत्यु से आप निश्चिंत हो गये। मैं तो इतना ही जानती हूँ कि मैं आपकी हूँ और सदैव आपकी ही रहूँगी, इस जीवन में ही नहीं, बल्कि अनन्त तक।

अभागनी

"कुसुम"

—"कुसुम"—'प्रेमचन्द'

कहानी लिखने की यह प्रणाली भी उतनी अच्छी नहीं। इस प्रणाली में कई दोष हैं। वे घटनाओं के रूप में बहुत शिथिलता डाल देती हैं। कथानक जिस वेग से बढ़ना चाहता है, उस वेग से वह इसलिये नहीं बढ़ पाता कि उसे पूरी स्वतन्त्रता नहीं मिलती। जिस तरह तूफान की लहर ज्वार के उतार में दब जाती है, उसी प्रकार घटनाओं का वेग पत्र-रूप में। पत्र-कहानी की कहानी में जीवन नहीं रहता, वह प्राणहीन होकर लेखनी के पीछे चलती रहती है।

कहीं-कहीं पत्रों का उल्लेख किसी तीसरे ही पात्र से कराया जाता है। ऊपर जो उदाहरण पेश किया गया है, उसमें प्रेमचन्दजी जी प्रथम पुरुष 'मैं' से ही कहानी प्रारंभ करते हैं।

(३) ऐतिहासिक पद्धति—कहानी लिखने की यह तीसरी पद्धति ही सबमें अच्छी है। इसके द्वारा विचारों को सर्वांग-सुन्दर तथा विशद् रूप में प्रकट करने की, घटनाओं की सजीव एवं मनमोहक वर्णना की, पात्रों के चरित्र-विकास दिखाने की काफी स्वच्छन्दता रहती है। किसी भी अड़चन के कारण लेखन-शक्ति संकुचित नहीं हो पाती। इसके द्वारा घटनाओं के क्रम-बद्ध विकास में वेग का संचार किया जाता है, मानव-हृदय के निगूढ़तम भावों को प्रकाश में लाने की स्वतंत्रता रहती है, जिससे कहानी में जीवन-सा आ जाता है। लेखक पात्रों को आगे लाकर बातचीत कराता है। यथा—

"थोड़ी देर बाद जब मैं उनके पास पहुँचा, तो देखा—वे अपने बिस्तर पर पड़ी-पड़ी तकिये में सिर गड़ाकर सिसक रही हैं।"

मैंने उनका हाथ पकड़ लिया और आर्द्रस्वर में कहा—"भौजी, तुम बार-बार उससे अपमानित होने क्यों जाती हो?"

बड़की भौजी चटपट उठ बैठीं और आँसू पोंछकर बोलीं—"नहीं सुशील, मैं उसके पास अपमान लेने नहीं जाती, उसके प्रति अपना कर्तव्य-पालन करने जाती हूँ। वह मेरा अपमान करती है, इसका मुझे रत्ती भर भी खयाल नहीं है। मुझे दुःख इस बात का होता है कि मैं उसे अपना नहीं सकती।"

"वह अपनाने योग्य वस्तु है ही नहीं।" मैंने कहा।

"अमृत तो सभी अपना लेते हैं सुशील!" बड़की भौजी ने

अपनी स्वाभाविक गम्भीरता से कहा—"पर विष अपनाने के लिये बहुत बड़ी तपस्या की जरूरत होती है। अगर मँझली ऐसी है जिसको मैं अपना नहीं सकती, तो इसका कारण यही है कि मेरे पास उतनी शक्ति नहीं, साधन नहीं, तपस्या नहीं—यही सोच-सोचकर मैं रो रही थी।"

मैं चुपचाप सिर झुकाकर उनकी बातें सुन रहा था और मन ही मन सोच रहा था,—यह मानवी है या देवी ?

इसी समय मँझले भैया भी वहीं आ गये और मेरा हाथ पकड़कर बोले—"सुशील, इस घर को अब तुम्हीं सम्हालो। मैं अपनी पत्नी के मारे कुछ कर नहीं सकता। मुझे माफ करना, मैं इस घर को छोड़कर अभी जा रहा हूँ।"

मेरे मुँह से सहसा कुछ न निकल सका। बड़की भौजी ने बड़बड़ाये हुए स्वर में पूछा—"यह क्या मँझले बाबू ?" मँझले भैया ने रूँधे स्वर में कहा—"नहीं भौजी, अब मैं यहाँ हर्गिज नहीं रहूँगा। इस चुड़ैल को सिर चढ़ाने का यह फल है। मैंने पाप किया है ! आज उसका प्रायश्चित्त कर रहा हूँ। इस घर से मैं सदा के लिये जा रहा हूँ।"

मेरी आँखों से आँसू की धारा बह चली। हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा ; पर वाणी स्तब्ध रही।

"बड़की भौजी"—"द्विज"

(४) कथोपकथन पद्धति—कहानी लिखने की यह प्रणाली भी अत्युत्तम है। इससे और ऐतिहासिक पद्धति से बहुत ही सूक्ष्म

पार्थक्य है। ऐतिहासिक पद्धति में पात्रों को सामने लाकर कथोपकथन कराने के अलावे लेखक भी वर्णन करता चलता है; किन्तु इस प्रणाली के अनुसार पात्रों के कथोपकथन द्वारा ही कथानक की सृष्टि की जाती है। लेखक इसके लिये बराबर सावधान रहता है कि कहानी नाटक न हो जाय। कथोपकथन से कहानी गतिशील होती है और पात्रों के चरित्र का सुन्दर परिज्ञान कराया जा सकता है। घटनाओं के क्रमबद्ध विकास में प्रवाह का पुट लगाकर पात्रों के शील-स्वभाव का सुन्दर नमूना उपस्थित करने में कथोपकथन बड़ी मदद देता है। इससे कहानी में मनोरंजकता की अभिवृद्धि होती है। यथा—

" अब जाती हूँ सुधा !"

"आज इतनी जल्दी क्यों मचा रही हो कुसुम ?"

"लल्लन भैया आनेवाले हैं, शायद आ गये हों।"

"आनेवाले हैं ? और उनके दोस्त भी आ रहे हैं ?"

"कौन ? श्याम बाबू ?" कुसुम ने तनिक मुस्कुरा कर पूछा।

"हाँ।" कहते हुए सुधा का मुखमण्डल अनुरंजित हो उठा।

"अच्छा सुधा"—उसका हाथ पकड़कर कुसुम ने प्यार से पूछा—"सच कहना, भैया के दोस्त तुम्हें कैसे लगते हैं ?

"बहुत ही अच्छे," कहकर सुधा पैर के नाखून से धरती खुरचने लगी।

"अगर उन्हीं के साथ तुम्हारा ब्याह हो जाय ?"

"तो अन्धेर हो जाय !"

"क्यों ?"

"क्योंकि यह एक अनहोनी-सी बात है ।"

"ऐसा क्यों कह रही हो ? "

"अपना करम (भाग्य) टटोलकर, अपने माँ-बाप की रंगत देखकर ।"

"कैसी रंगत ?" कुसुम ने आश्चर्य और आशंका-भरी वाणी में पूछा ।

"क्या तुम जानती नहीं हो कुसुम !" सुधा ने सजल स्वर में कहना शुरू किया—"मेरे माँ-बाप और तुम्हारे माँ-बाप में कितना बड़ा भेद है ? तुम्हारे माँ-बाप तुम्हारा ब्याह करते समय केवल तुम्हारे वर का खयाल रक्खेंगे और मेरे माँ-बाप केवल रुपयों का । तुम ब्याही जाओगी, मैं बेची जाऊँगी ! फिर भला यह कैसे हो सकता है कि मैं उन-सा गुणवान् पति पा जाऊँ ? "

अपनी प्यारी-सखी की यह मर्मभरी बात सुनकर कुसुम का हृदय भर आया । वह थोड़ी देर तक बिलकुल चुप रही । फिर उसने स्नेह-कम्पित स्वर में पूछा—अच्छा मान लो, यह अनहोनी बात हो ही जाय ?"

" मोक्ष की भिक्षा "—"द्विज"

कथोपकथन का प्रयोग कहानी में एक विशेषता यह ला देता है कि वह रस की उत्पत्ति कर सर्वदा हमारे मन को आकृष्ट किये रहता है—ऊबने नहीं देता । हाँ, कथोपकथन केवल व्यर्थ

की बातों का बतंगड़ न हो। उसका ध्येय हो रोचकता रखकर चरित्र की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना। परन्तु, किसी भी प्रकार से उसमें अस्वाभाविकता और अनुपयुक्तता न आने पाये। कथोपकथन अभिनयात्मक हो ; परन्तु सम्पूर्ण रूप से मानवोचित हो और श्लीलता की सीमा पार न कर जाय। पात्रों के व्यक्तित्व की छाया हो ; किन्तु उसके लिये अश्लीलता का सहारा न लिया जाय। 'राजू की बिटिया' नाम की कहानी में श्रीगोपालचन्द्रजी पाण्डेय ने विमाता का चरित्र किस खूबी से अंकित किया है कि क्या मजाल कि कथोपकथन में अश्लीलता की बू भी मिले—

"क्या हुआ, कुछ ठीक कर आये कि नहीं ?" राजू की स्त्री ने पूछा।

"कोई अच्छी खबर नहीं है"—कुर्त्ता उतारते हुए राज ने कहा—"दो जगह तो गया था ; किन्तु कहीं भी मेरे पसन्द का लड़का न मिला। जिसके विषय में महाराजजी से बातें हुई थीं, वह लड़का नहीं है, लड़के का दादा है। उम्र कोई पचास की होगी। तीन शादियाँ हो चुकी हैं, अब चौथे पर तुला हुआ है। तीनों में एक को भी सन्तान नहीं है। धन-सम्पत्ति है, बूढ़ा सन्तान का भूखा है, भोगने-वाला तो चाहिये।" अन्यमनस्क होकर राजू ने कहा।

"तो ब्याह दो न, मजे में रहेगी।"

"तुम्हें क्या विचार छू तक नहीं गया है ? मैं उस बूढ़े से अपनी बेटी ब्याह दूँ ? लड़की क्वाँरी रह जाय सही........।"

"अजी ठहरो भी। तुम्हारी लड़की भी कोई इन्द्रासन की परी है जो इतना उछल रहे हो! फिर उम्र भी तो हुई—कितनी है? इस साल कातिक में दसवाँ चढ़ेगा।"

"कुछ भी हो, मैं तो भरसक चेष्टा करूँगा अपने दिल की करने की—आगे ईश्वर जानें।" कहते हुए राजू चारपाई पर लेट गया।

दूसरे दिन सबेरे फिर वह वर की खोज में निकल पड़ा। शाम को लौटा तो उसके चेहरे पर शान्ति की कुछ झलक थी।

चम्पा ने कहा—"आज जान पड़ता है, काम बना आये।"

"हाँ, एक प्रकार बना ही आया। वह कोई अट्ठारह का होगा, लेकिन माँगता बहुत है—पूरे ढाई सौ!"

"ढाई सौ?"—आँखें तरेरती हुई चम्पा बोली—"तो बात पक्की कर आये क्या?"

"हाँ, बात तय ही है।"

"तो रुपये कहाँ से लाओगे?"

"जमीन पर रुपये लेने पड़ेंगे और लाऊँगा कहाँ से?"

"और दोनों जून कैसे चलेंगे?" भोजन करने का अभिनय करती हुई चम्पा बोली।

"जैसे मालिक चलावें!"

"रुपये पर गहने भी देने पड़ेंगे या सिर्फ़ रुपये ही?" चम्पा ने फिर पूछा।

"अच्छी रही! लड़की की शादी और बिना गहने के? तुम भी क्या बात करती हो? वह न भी माँगे, लेकिन हमे तो देना

उचित है।" स्त्री की ओर देखते हुए राजू ने कहा।

"उचित तो बहुत कुछ है, एक जमीन्दारी दे दो न, लेकिन हो भी तो! जमीन पर ही तुम्हें कौन लाख दो लाख मिल जायंगे? खर्च भी तो कुछ कम नहीं बताते।"

"सब हो जायगा। गहने तुम्हारे हैं ही। बाकी खर्च के लिये भी रुपये कहीं से जुटा लेंगे।"

"क्या कहा? मेरे गहने? चाहे शादी हो या न हो मेरी बला से, मैं अपने गहने क्यों देने लगी?" जलती हुई वाणी में चम्पा बोली।"

"तो क्या घर भी जल गया? इसे ही बेच लूंगा?"

इस कहानी में चरित्र का बहुत सुन्दर और स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया गया है। पिता के मर्म की कथा कितने सुन्दर ढंग से सामने रखी गयी है। पात्रों की मनोवृत्ति ही घटना को प्रगतिशील बनाने में कैसी सफलता पाती है। तिसपर तुर्रा यह कि हृदय मलीन होने पर भी विमाता की बातचीत श्लीलता की सीमा के भीतर ही है और उसमें सम्पूर्ण स्वाभाविकता है। पात्रों की स्थिति के अनुकूल ही कथोपकथन का प्रयोग किया गया है। साथ ही साथ वैयक्तिता (individuality) का भी बड़ी खूबी से निर्वाह किया गया है। 'इन्दरासन', 'कातिक' आदि शब्द का प्रयोग गॅवई पात्र के मुख से कराना कथोपकथन की उपयुक्तता और सजीवता है।

इस कार्य के लिये लेखक को पात्र से पूर्णरूपेण परिचित हो-

कर उसी योग्य लेखनी चलाना चाहिये। अस्वाभाविकता, अनुप-युक्तता, अश्लीलता आदि आजाने से कथोपकथन की मर्यादा ही जाती रहेगी। बातचीत मानवोचित हो, व्यर्थ और नीरस न हो। कथोपकथन में यह भी एक प्रकार से आवश्यक ही है कि कहीं न कहीं मनोभाव पर प्रकाश पड़ ही जाय; क्योंकि केवल बेमतलब की बातों से अरोचकता आ जाती है। कथोपकथन के प्रयोग का मुख्य उद्देश्य ही है चरित्र पर प्रकाश डालना, घटनाओं को गति देना एवं कथावस्तु में मनोरंजकता लाना। जिस कहानी में विव-रण की अपेक्षा कथोपकथन की प्रधानता होती है, वह कहानी अत्यधिक आकर्षक और हृदयग्राही होती है, बशर्ते कि बातचीत सरस हो, उसके उद्देश्य का पालन करती हो।

बातचीत में हास-परिहास से भी मनोरंजकता आती है; परन्तु बड़ी सावधानी से उसका उपयोग हो तब। कथोपकथन द्वारा किसी खास मत का प्रचार करना अथवा सिद्धान्त का प्रतिपादन करना, कहानी को नीरस और अरोचक कर देता है।

शैली और आकार

"भाव अनूठो चाहिये, भाषा कोऊ होय"—रचना के विषय में बहुतों की ऐसी भी धारणा रहती है। उनके मतानुसार कथानक ही सुन्दर होना चाहिये, शैली तो महज मनोरंजन की वस्तु है। यदि वह उत्कृष्ट न भी हो, तो भी कहानी की सुन्दरता विनष्ट नहीं हो सकती।

शैली की आवश्यकता

परन्तु, यह विचार उपयुक्त नहीं प्रतीत होता; क्योंकि जिस उत्कृष्ट ढंग के आधार पर मनोभाव की सुन्दर-अभिव्यक्ति होती है, शैली उसीका नाम है। अर्थात् मनोभाव की अभिव्यञ्जना जिस उत्कृष्ट ढंग से की जाती है, उसे ही शैली कहते हैं। रचना का यह एक अनिवार्य अंग है। वस्तुतः कथानक अत्यन्त सुन्दर होने पर भी यदि वह सुन्दर शैली-युक्त न हो, तो कहानी कौड़ी काम की न होगी। सच पूछिये तो शैली ही के सहारे कहानी में मनोहरता लायी जा सकती है। "स्त्रियों का कार्य हृदय का कार्य है। उनको

हृदय देना पड़ता है और हृदय को खींचना पड़ता है। इसीलिये बिलकुल सरल सीधा-सादा और नयानयापा न होने से उनका कार्य नहीं चलता। पुरुषों को यथा योग्य होना आवश्यक है; किन्तु स्त्रियों को सुन्दर होना चाहिये। मोटे तौर से पुरुषों के व्यवहार का सुस्पष्ट होना ही अच्छा है; किन्तु स्त्रियों के व्यवहार में अनेक आवरण और आभास इंगित होने चाहिये।

साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल करने के लिये अलंकारों का, रूपकों का, छन्दों का और आभास-इङ्गितों का सहारा लेता है। दर्शन और विज्ञान के समान निरलंकृत होने से उसका गुजारा नहीं चल सकता।"*

फलतः कहानी में भी शैली की आवश्यकता है। केवल सुन्दर कथानक द्वारा ही वह आनन्ददान नहीं दे सकती। सच तो यह है कि शैली अथवा भाव और तत्त्व को प्रकाशित करने का तरीका ही लेखक का अपना होता है; इसलिये यदि शैली को छोड़ दिया जाय तो लेखक की प्रतिभा का कुछ निदर्शन ही नहीं रह जाता। भाव, विषय और तत्व साधारण मनुष्य के होते हैं। उन्हें यदि एक मनुष्य बाहर नहीं करता, तो कालक्रम से कोई दूसरा करेगा ही। किन्तु, रचना सम्पूर्ण रूप से लेखक की अपनी होती है। वह एक मनुष्य की जैसी होगी, दूसरे की वैसी नहीं। इसलिये रचना के अन्दर ही लेखक यथार्थ रूप से जीवित रहता है, भावों और विषय के अन्दर नहीं।

* साहित्य पृ० ३।

फिर रचना के मानी भाव, तत्त्व और विषय एवं उसे अभि-व्यक्त करने का ढंग ही तो है। यानी इनका सम्मिश्रण ही रचना है। जहाँ उत्कृष्ट शैली का अभाव है, वहाँ तत्त्व और भावों के रहते हुए भी, रचना का अंग अपूर्ण रहता है, और जहाँ केवल शब्द-योजना, पद-विन्यास, प्रसंग-गर्भत्व आदि का अच्छा निर्वाह है, लेकिन भाव और तत्त्व की कमी है, तो भी कहानी निर्जीव ही रह जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि रचना से शैली और भाव, विषय दोनों ही का बोध होता है। "जैसे तालाब कहने से जल और खुदा हुआ आधार इन दोनों बातों का एक साथ बोध होता है, किन्तु इनमें से यश किसका है? जल मनुष्यों की सृष्टि नहीं, वह तो चिरन्तन है। उसी जल को विशेष रूप से सर्व-साधारण के उपयोग के लिये सुदीर्घ काल पर्यन्त रक्षा करने का जो तरीका है, वही प्रख्यात, कीर्त्तिमान मनुष्य का अपना है। उसी प्रकार भाव भी मनुष्यमात्र का है; किन्तु उसको विशेष मूर्त्ति में सब मनुष्यों के लिये विशेष आनन्द की सामग्री बनाने की उपाय-रचना ही लेखक का यश है।"*

रचना और शैली

इसलिये कहना अत्युक्ति नहीं कि शैली के बिना कहानी कुछ नहीं—अर्थात् कहानी के उद्देश्य-पालन के लिये शैली अनिवार्य है। हम देखते हैं कि कोई भी कहानी अगर सजी-सजायी नहीं हो तो हमारी तबीयत बैठती नहीं। इसका मतलब यह

*साहित्य पृ० १२।

है कि हमारी प्रवृत्ति सौंदर्य का अनुसन्धान करती है और यह सही है कि शैली ही कहानी में अपूर्व सौंदर्य लाने में समर्थ है। कहानी में जिन भावों और विषयों तथा तत्वों का समावेश रहता है, हम प्रायः उनसे परिचित रहा करते हैं। कभी-कभी कोई बात नई भी मालूम पड़ती है; क्योंकि सभी बातों तक हमारी पहुँच नहीं भी हो सकती है। खैर, इसी जगत से बीनकर इकट्ठी की गयी सभी बातों से हम अनजान नहीं रह सकते। अतएव, कहानी में हम केवल उन भावों, विषयों और तत्वों ही को नहीं देखना चाहते; देखना चाहते हैं लेखक उसे सुन्दरता से, सरलता से सजाने में कहाँ तक सफल हुआ है।

शैली के अंग

उपादान (Matter) और रूप (Form) शैली के ये दो मुख्य अंग हैं। वाक्य-विन्यास, पद-विन्यास, शब्द-योजना और प्रसंग-गर्भत्व आदि पहले अंग के अंतर्गत हैं; और दूसरे में चरित्र-विकास एवं उसके तत्वों पर लेखक के व्यक्तित्व की छाप रहती है। इसके अनुसार लेखक जितनी ही उच्च कोटि का होगा, उसके विचार जितने स्वच्छ और परिमार्जित होंगे, उसके मनोभाव जितने ही विमल और विशुद्ध होंगे, उसीके अनुकूल हम उसकी रचना में उन विचारों तथा उन भावों की झलक देख सकेंगे।

उपादानात्मक शैली के लिये भाषा पर लेखक का पूरा अधिकार होना चाहिये। भावों की अभिव्यक्ति का आधार भाषा है। अतएव, भाव को सुन्दर रूप में प्रकाश करने के लिये

उसीके उपयुक्त भाषा में सुन्दरता चाहिये। भाव में भाषा द्वारा ही मार्मिकता का पुट चढ़ाया जा सकता है।

कहानी की भाषा

इसी भाषा पर जोर रहने से शब्द-योजना, पद-विन्यास, वाक्य-विन्यास और अलंकार आदि के सन्निवेश में लेखक को सफलता मिल सकती है। समय और स्थान के अनुकूल शब्दों का प्रयोग हो, जो जिगर में मजीठ के रंग की तरह कहानी के प्रभाव को रक्खे। कहानी के विषय को सुस्पष्ट करने के लिये कभी-कभी उपाख्यान या कथा का भी प्रयोग किया जाता है। इसे ही प्रसंग-गर्भत्व (Allusiveness) कहते हैं। परन्तु, इसका प्रयोग उसी हालत में वांछनीय है, जब कहानी में जटिलता न आये। जटिलता कहानी के प्रवाह में बाधा तो पहुँचाती ही है, उसकी सुन्दरता भी विनष्ट कर देती है। इसीलिये कहानी की भाषा सरल और मुहावरेदार ही उपयुक्त मानी जाती है। सच पूछिये तो कहानी की सुन्दरता उसकी सरलता ही है। केवल शब्दों के पहाड़ भर देने से न तो लेखक की बुद्धिमत्ता ही जाहिर होती है और न कहानी ही सुन्दर और आनन्दप्रद हो सकती है; वरन् उससे जी ऊब उठता है। इसी तरह का एक नमूना हम नीचे दे रहे हैं।

"अलौकिक रूपराशि से विभूषित होकर वह विश्व के रंग-मंच पर अवतीर्ण हुई थी, आकाश-मंडल से मानों शारदीय सुधाकर की विमल सुधाधारा शरीर रखकर प्रकट हुई थी, समुज्ज्वल तारकावली मानो प्रकाशमयी प्रतिमा के स्वरूप में आविर्भूत हुई

थी, नन्दनवन की पारिजात-श्री मानो कांत-कलेवर धारण करके प्रस्फुट हुई थी, आनंद-स्यंदिनी मोक्षकला मानो मूर्त्तिमती होकर अवतीर्ण हुई थी। वह सौंदर्य-सरोवर की कमलकमला की भाँति कांतिमयी थी।

आनन्द कादंबिनी जैसी रसमयी, अरुण कादंबरी जैसी मदमयी, स्वर्ग संगीत धारा जैसी उच्छ्‌वासमयी, वसंत-कोकिल जैसी रागमयी, अमृतवाहिनी मंदाकिनी जैसी पुण्यमयी, आर्ष-कविता जैसी प्रसन्न भावमयी, प्रभातलक्ष्मी जैसी प्रकाशमयी, वह इस धरा-धाम को अपने अपूर्व लावण्य की आलोकमाला से समुद्भासित करने के लिये आयी थी। वह स्वर्ग की सौंदर्यराशि थी और विमुग्ध विश्व ने अपनी समस्त विमल विभूति से उसका मंडन किया था।"

"विलासिनी"—स्वर्गीय 'हृदयेश' बी. ए.।

'हृदयेश' जी की 'विलासिनी' केवल शब्दों के प्रयोग में असावधानता के कारण ही भद्दी हो गयी है। वाक्याडम्बर में पाठक को उलझाने की चेष्टा उनमें अरुचि पैदा करने के अलावे और कुछ नहीं। गल्प में शब्द तो इतना तौलकर व्यवहार किया जाय कि किसी भी तरह से उसका एक भी शब्द निकाला न जा सके। कहानी में एक भी शब्द की कमी उसके प्रधान भाव को धक्का पहुँचाती है।

हिन्दी में फिजूल शब्दों का व्यवहार बहुत अधिकता से किया जाता है। परन्तु, अंग्रेजी, फ्रेंच आदि भाषा के विद्वान्

लेखक इस ओर इतने सावधान रहते हैं कि क्या मजाल कि कहानी से एक भी शब्द निकाल लिया जा सके। वे शब्दों का ऐसा नपा-तुला व्यवहार करते हैं, मानो वे उसीमें खुदे हुए हों। मोपासाँ की तो इसीके लिये सब से अधिक प्रसिद्धि है।

अब विचारणीय यह है कि कहानी हो कितनी बड़ी? प्रसिद्ध कहानीकार पो की राय है कि कहानी (Short Story) आधे से दो घंटे तक पढ़ने में आ जाय। यह एक प्रकार से उसकी सीमा बाँध दी गयी है। लेकिन, सच बात तो यह है कि कहानी उतनी ही बड़ी हो कि उसे पढ़ने में लोग ऊब न उठें, केवल जरा देर में वह समाप्त हो जाय।

यह बताने की अब आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि कहानी में किसी एक ही पात्र के जीवन की किसी महत्वपूर्ण घटना की सुन्दर अभिव्यक्ति भर होनी चाहिये। विशेष पात्र को छोड़ उसके परिवार की अथवा बहुतेरी घटनाओं का दिग्दर्शन कराना कहानी के लिये अभिप्रेत नहीं—उपन्यास के लिये भले ही हो। 'वेल्स' के कथनानुसार किसी एक अविच्छिन्न भावधारा का हृदय में उद्रेक करना ही कहानी का उद्देश्य है।* इसलिये कहानी की लम्बाई के लिये लेखनी का संयमित रूप से चलाना अत्यावश्यक है, नहीं तो कहानी का असली रूप कोसों दूर रह जायगा।

जिस प्रकार उपन्यास में आज एक परिच्छेद पढ़ गये, कल

---

* Short-story aims at a single concentrated impression —H. G. wells.

दूसरा, परसों तीसरा, ऐसी जगह कहानी में नहीं। इसमें 'चट मंगनी पट ब्याह' वाली बात होनी चाहिये। नायक पहले क्या था, अब क्या है, आगे क्या होगा, खोद-खोदकर इन सभी बातों पर प्रकाश कहानी में नहीं डाला जा सकता। नानी की कहानी के समान "फिर क्या हुआ ? फिर एक चिड़िया उड़ी फुर्र, फिर क्या हुआ ? फिर एक चिड़िया उड़ी फुर्र," इस तरह बाल की खाल खींचने की नाई न तो पाठक को पूछने का अधिकार है, न कहानीकार का बताना कर्त्तव्य। हाँ, घटना का क्रमबद्ध विकास होना चाहिये और इसीमें उसकी—यानी कहानी लेखक की प्रतिभा का परिचय पाया जाता है। कहानीकार अपने मुख्य पात्र के चरित्र-विकास के लिये एक-आध छोटे पात्रों की सृष्टि करता जरूर है, मगर इशारामात्र। सभों का पूरा परिचय देकर कहानी को पोथा नहीं बना डालता। वह जिन घटनाओं को निर्वाचित करता है, वे होती तो हैं माला के फूलों की तरह एक दूसरे से लगी हुई, परन्तु बढ़ती चलती हैं, इसलिये कि देखते ही देखते वक्तव्य-विषय पर पूर्ण प्रकाश पड़ जाय और लोग ऊब न उठें।

कहानी की सृष्टि में इस उद्देश्य का भी हाथ अवश्य ही रहा होगा कि बहुत थोड़े ही समय में लोग आनन्द प्राप्त करने में समर्थ हों। कर्ममय जीवन में नाना झंझटों के कारण जिन्हें साहित्य से प्रेम करने का बहुत ही थोड़ा अवसर प्राप्त होता है, उन्हें भी इस ओर आकृष्ट करने का यह साधन है। उपन्यास में अन्तिम परिणाम पर पहुँचने के लिये बीसियों दिन लग जाते

हैं ; किन्तु कहानी का खुलासा पन्द्रह-बीस मिनट ही में हो जाता है। इसीलिये, कहानी जन-साधारण की भी भी प्रिय वस्तु है।

विश्व-साहित्य की कुछ प्रसिद्ध कहानियों की लम्बाई नीचे दी जा रही है।

(१) On the Stairs—आर्थर मॉरिसन १६०० शब्द।
(२) The Father—बिपन्स्टिंपरसन १५०० „
(३) The Insurgent—लुडोमिक हॉलेमि २००० „
(४) The Cask of Amontillado एडगर-एलेन पो २५०० „
(५) सूत का गुच्छा—मोपासॉ २५०० „
(६) नेकलेस—मोपासॉ ३००० „
(७) The Monkey's Paw—जेकब्स ३५०० „
(८) The Substitute—फ्रांसोआ कॉने ३५०० „
(९) Fennesees Partner—ब्रेट-हर्ट ४००० „
(१०) Where love is, there God is—also लियो टॉल्सटाय ५५०० „
(११) Mateo Falcone—प्रॉसपर मेरिभि ५५०० „
(१२) Next to Reading Matter—ओ हेनरी ६००० „
(१३) Another Gambler—पॉल बुर्जे ६००० „
(१४) The Man who was—किपलिंग ६५०० „
(१५) The Great Store Face—हॉ थॉर्न ३५०० „

इस विषय में फ्रेंच-साहित्यिक मोपासाँ के समान परम संयमी शायद और नहीं। क्या मजाल कि उनकी कहानियों से कोई एक भी शब्द फिजूल बाहर कर सके। उनकी कहानियों के अंग्रेजी अनुवादक का कहना है कि अपनी कहानी द्वारा वे मन में अनुरूप अनुभूति का उद्रेक कराना चाहते हैं, हृदय की तन्त्री पर आघात करके चले जाते हैं।

हिन्दी में असंयम के कारण

परन्तु, हिन्दी में कहानी की लम्बाई लेकर कोई संयम नहीं लक्षित होता। लेखनी चल पड़ी तो चल पड़ी, चाहे जहाँ जाकर रुके। केवल फिजूल के शब्दों और वाक्यों से पन्ने के पन्ने रंग डाले, कहानी का उससे सौष्ठव नष्ट हुआ ही तो क्या? मोपासाँ ने ऐसी बहुतेरी कहानियाँ लिखी हैं, जिनके न लिखे जाने से भी कोई क्षति नहीं थी परन्तु, टेकनिक की ओर से सब निर्दोष हैं। उन लोगों को शब्दों का व्यर्थ प्रयोग नहीं सुहाता। विराम, अर्ध-विराम आदि का चिह्न यदि फिजूल हो, तो उन्हें असह्य है। परन्तु हमारे यहाँ मोटी भूल की भी परवाह नहीं की जाती। इस असंयम का मूल कारण यह है कि हमारे यहाँ के पत्रकार Quality के हिसाब से दाम नहीं देते। अंग्रेजी के प्रत्येक पत्र में एक पृष्ठ के लिये साधारण से साधारण रचना पर भी चालीस रुपये से कम नहीं मिलता। तीन पृष्ठ की एक कहानी की कीमत प्रायः १० गिन्नी दी जाती है। किपलिंग की कोई भी कहानी पाँच हजार रुपये से कम पर नहीं बिकती; गॉल्सवर्दी की एक

कहानी डेढ़ हजार पर ली जाती है। अमेरिकन पत्र तो इससे भी अधिक कीमत चुकाते हैं।

बात यह है कि उन देशों में चीज की कद्र है। हमारे यहाँ 'गुण ना हिरानो गुण गाहक हिरानो है' वाली बात है। यहाँ तो मस्तिष्क खोलकर रख देने पर भी कोई उसकी कीमत साग-पात के समान नहीं आँकेगा। रचनाएँ कौड़ी के मोल बिकती हैं, वह भी बहुत खुशामद और मिन्नत के फल-स्वरूप। और वहाँ? वहाँ बर्नर्डशॉ की चिट्ठी हजार रुपये में खरीदी जाती है और—'हम लेंगे, हम लेंगे' में लाठी चलती है। Journe's End के युवक लेखक Sheriff को पहले ही साल लगभग १४ लाख रुपये मिले, और पुस्तक केवल कुछ पन्नों की थी। All Quiet on the western Front लिखकर जर्मन युवक Remarque माला-माल हो गया। उचित पारिश्रमिक नहीं मिलने के कारण ही कथा-साहित्य में लम्बाई के लिये हमारे यहाँ संयम की कोई जरूरत नहीं समझी जाती। मुफ्तखोर पत्र-सम्पादकगण कहानी को कसौटी पर कसते नहीं हैं। कसें भी कैसे? उन्हें तो यों ही सैंकड़ों कहानियाँ मिल जाती हैं। दूसरे यदि कोई स्थान प्राप्त लेखक कुछ पाने लायक सौभाग्यशाली हो सका है, तो मुश्किल से १२ आने या एक रुपये कॉलम। छोटी कहानी लिखकर बेचारे की रोजी नहीं चल सकती। अतः जैसे-तैसे व्यर्थ के कथोपकथन, वर्णन आदि के द्वारा कुछ कॉलम बढ़ाकर रुपया-आठ आना अधिक गाँठने का मनसूबा करता है। परन्तु, इसमें सन्देह

नहीं कि इस कारण कथा-साहित्य का सच्चा स्वरूप नहीं रह पाता। साहित्य के भण्डार में केवल व्यर्थ की गन्दगी भरी जाती है। इसलिये यह अत्यावश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है कि कहानी की लम्बाई उतनी ही हो, जिससे कहानी को कहानी कहने में कोई आपत्ति न हो सके। फिजूल वाक्याडम्बर से उसकी मर्यादा बिगाड़ना उचित नहीं।

कहानी का उद्देश्य

बहुतों की राय है कि कहानी का एक विशेष उद्देश्य होना चाहिये। यदि कहानी से कोई शिक्षा न मिले, तो वह कहानी किस काम की। दूसरी ओर कुछ लोगों की धारणा है कि कहानी का कार्य सौंदर्य सृष्टि कर आनन्द-प्रदान करना है। अतएव, उपदेश या शिक्षा की बू उसमें होनी ही न चाहिये।

सच पूछिये तो, कहानी और उपन्यास में प्रभेद है तो यहीं पर। उपदेश का समावेश तो उपन्यास में होना चाहिये; निरुद्देश्य उपन्यास उपन्यास नहीं। परन्तु कहानी किसी भाव विशेष का विकास दिखाकर ही समाप्त हो जाती है। लेखक जब किसी सिद्धान्त की पुष्टि करने लगता है, तो वह कहानी के सिद्धान्त से दूर हो जाता है और उपदेशक बन बैठता है।

विगत शताब्दि के सर्वश्रेष्ठ अंग्रेजी साहित्यिक जॉर्ज मिपरडिथ ने एक बार टॉमस हार्डी से कहा था कि कहानी में प्लॉट के

सिवाय मत-मंडन अथवा उपदेश का स्थान नहीं। इस ध्येय से कहानी लिखी ही नहीं जानी चाहिये। कहानी का उद्देश्य कहानी है।

संसार के श्रेष्ठ कहानीकार मोपासाँ की "Chair mender" तथा "The Minuet" इन दो कहानियों से कुछ समालोचकों ने यह सिद्धान्त स्थिर करने की चेष्टा की है कि कहानी में उपदेश की एकान्त आवश्यकता है। परन्तु, Stories from Guy De Maupassant" की भूमिका में Mr. Ford M. Hueffer ने स्पष्ट कर दिया है कि मोपासाँ ने उपदेशमूलक जो वचन अपने विषय के प्रतिपादन के लिये कहे हैं, वे व्यावहारिक अनुष्ठान के सिवाय और कुछ नहीं। हमारी दृष्टि विषय की ओर आकर्षित करने की वह चेष्टामात्र है।

लेखक महोदय कहते हैं—A moral proposition is stated at the opening, the story is then told in the shape anedote illustrating the proposition. This seems at first sight a contradiction of the theory that is at the base of an art of the type of Maupassant. The only thing of value is the concrete fact—the concrete fact is only of value as an "illustration" of a state of mind, a characteristic in an individual. The fact should be stated first. The moral may or may not be drawn in so many words. Theoretically it ought not to be, because the first

duty of an artist is not to comment and predict, not to moralise." अभिप्राय यह है कि यह देखकर लोग कह सकते हैं कि मोपासाँ की कला की विशेषता बदल गयी है। घटना मानसिक भावों की अभिव्यक्ति है एवं मोपासाँ की श्रेष्ठता घटना वर्णन में है। वस्तुतः घटना-वर्णन ही कहानी का मुख्य उद्देश्य है। उपदेश उसमें पाया जा भी सकता है, नहीं भी। परन्तु कला की ओर से कहानी में किसी भी प्रकार की शिक्षा की मौजूदगी अनुचित है, कलाकार का प्रधान कर्त्तव्य है घटनाएँ वर्णन करना। क्या होगा, इसकी ओर भी निर्देश करना उसका कार्य नहीं, न उपदेशक बन बैठना ही उसे उचित है।

जहाँ एक ओर लेनिन आदि की राय है कि जो कला जीवन को सुमार्ग पर न लाये वह कला ही नहीं; वहाँ दूसरी ओर कुछ की धारणा है कि 'सब प्रकार की कला अर्थहीन, उद्देश्य रहित होती है।' *

कला के कुछ उपासकों का तो यहाँ तक कहना है कि शुभाशुभ, सत्य-मिथ्या, सुन्दर-कुत्सित कुछ नहीं हैं। मनुष्य अपने मनोभाव की अभिव्यक्ति के लिये ही व्यग्र रहता है। जहाँ मनोभाव की अभिव्यक्ति मनोरम होती है, रचना की सफलता

---

* "The art should show things as they are"
M. Aranold.

"Art is neither moral nor immoral, it is simply non moral"

—Oscar wilde.

वहीं पर है, वही कला है। अर्थात् प्रकाश की पूर्णता ही कला की चरम सार्थकता है।

जो भी हो, अब भी यह निर्णय विवाद-ग्रस्त ही रहा ; क्योंकि हम देखते हैं कि रूस के ऋषि टॉल्स्टॉय एवं अन्य साहित्यिक-गण अपनी कहानी में किसी तरह का उपदेश दिये विना नहीं रहे। हिन्दी की कहानी पर भी उसकी छाप पड़ी पायी जाती है। परन्तु, फिर भी हमें उससे आनन्द की उपलब्धि होती ही है और उन्हीं कहानियों की वदौलत वे कहानीकार विश्व में मान्य और प्रतिष्ठित हुए।

वात कुछ ऐसी वड़ी नहीं, इसकी मीमांसा वर्नार्डशॉ के गुरु ऑस्कर वाइल्ड की एक कहानी से हो जाती है। समालोचकों की राय उद्धृत कर देने की अपेक्षा एक सुप्रसिद्ध कहानी-लेखक की राय का मूल्य पाठक अंकित करेंगे और उनकी ही वात विशेष मान्य भी होगी। इसलिये समूची कहानी का अनुवाद दिया जा रहा है जिससे पाठकों को विशेष सुविधा हो। किसी जगह का कुछ अंश उठाकर देने से कदाचित् सुविधाजनक और लाभदायक नहीं होता। The Devoted Friend कहानी का नाम है।

दिली दोस्त

एक वूढ़े पण्डुक ने पोखर में एक वत्तख को अपने वच्चों को तैरना सिखलाते हुए देखा। किस प्रकार सिर उठाकर पानी में तैरा जाता है, यही वह सिखा रही थी—"सिर उठाये वगैर समाज

में गुजर नहीं।" बीच-बीच में वह यह भी बताती जाती थी कि ऐसा हो कैसे सकता है।

बच्चे, लेकिन बिलकुल अबोध थे। समाज में रहने की उपयोगिता उनकी अक्ल में अँटती ही नहीं थी। फलतः माँ की बात पर वे ध्यान ही नहीं दे रहे थे।

बच्चों की दुर्बोधता देख पण्डुक ने कहा—इन दुर्बोधों का डूब मरना ही भला है।

बत्तख ने धीर होकर उत्तर दिया—नहीं, नहीं, कोई भी काम प्रारम्भ में सीखनाप डता है और खासकर बच्चों को सिखाने में धैर्य खो बैठने से काम नहीं चलता।

पण्डुक बोला—माँ-बाप के हृदय की अनुभूति मैं क्या जानूँ? मेरा संसार ही निराला है। मैंने आज तक शादी नहीं की और न करने की इच्छा ही रखता हूँ। प्यार करना अच्छी चीज है सही; लेकिन बन्धुत्व का स्थान उससे बहुत ऊँचा है। दिली दोस्त से कोई बड़ी वस्तु मेरी समझ से और नहीं।

बाँध की झाड़ी पर बैठी एक फुलसुँघी इन दोनों की बातें सुनकर मन ही मन हँस रही थी। बीच ही में, धैर्य की रक्षा न कर सकने के कारण, टपक पड़ी—अच्छा, जरा अपने दिली दोस्त के आदर्श तो कहो, सुनूँ।

कैसी बेपर की उड़ाई तुमने—पण्डुक प्रायः चीत्कार कर उठा—'मेरा अन्तरंग मित्र मुझमें कतई लीन होगा।'

'और तुम उसके लिये क्या करोगे ?' डैने को जरा फड़फड़ाकर फुलसुँघी ने पूछा।

पण्डुक ने कहा—तुम्हारी बात मेरी समझ में ही न आयी।

फुलसुँघी बोली—खैर, मैं ऐसी ही एक कहानी कहती हूँ—सुनो।

पण्डुक ने पूछा—कहानी क्या मेरे सम्बन्ध की है ? यदि हाँ, तो मैं सुनने को तैयार हूँ ; क्योंकि कहानी सुनना मैं बहुत पसन्द करता हूँ।

'तुम्हारे सम्बन्ध में भी वह ठीक बैठेगी।' फुलसुँघी झाड़ी छोड़कर कहानी कहने लगी।

'किसी समय में बनवारी नाम का एक सीधा-सादा आदमी रहता था।'

वे क्या कोई प्रसिद्ध व्यक्ति थे ?—पण्डुक ने पूछा।

'वैसे प्रसिद्ध नहीं; परन्तु उसका हृदय बहुत अच्छा था। एक बहुत छोटे-से घर में वह रहता था और उसके एक फुलवारी थी, जिससे अधिक सुन्दर फुलवारी उतने भर में और किसीको थी ही नहीं। भाँति-भाँति के सौरभ-मय सुन्दर फूल खिलते थे। मौसिमी फूलों की सुरभियुक्त सुन्दरता दर्शकों को मुग्ध कर लेती। प्रतिदिन वह अपनी उसी छोटी-सी फुलवारी में काम किया करता। यों तो उसके दोस्त बहुतेरे थे ; मगर उन सबमें प्यारा एवं दिली दोस्त था हरेकृष्ण।'

'ये हरेकृष्ण जब-जब उसकी फुलवारी होकर गुजरते, बिना कहे-सुने ही इच्छा भर फल-फूल तोड़ लेते। वे कहा करते—

'दिली दोस्त की सारी ही चीजें दोस्त के उपभोग की होनी चाहिये। बेचारा बनवारी इस महान् आदर्श की बात पर जरा सिर हिलाकर तथा फीकी हँसी हँसकर फौरन से पेश्तर सम्मति दे देता।'

'पुरा—पड़ोस के लोगों को हरेकृष्ण का यह व्यवहार फूटी आँखों भी नहीं सुहाता।'उसके पास काफी तादाद में बकरियाँ, छः दुधेली गौएँ, और आवश्यकता से अधिक अनाज था; किन्तु कभी भूलकर वह भी बनवारी को एक मुट्ठी अन्न या थोड़ा-सा दूध देने की बेवकूफी नहीं करता। उलटे बिना किसी हिचक के उसके फल-फूल ले लेता, यह कैसी बात! लोग जब कभी बनवारी के निकट इसकी चर्चा छेड़ते, तो वह केवल हँसकर रह जाता।'

"केवल जाड़े के दिनों को छोड़ सभी दिन उसके मजे में ही कटते। फूलों की बिक्री से खर्च भर की आमदनी किसी न किसी तरह हो ही जाती। किन्तु जाड़े में पासा पलट जाता। फल-फूल न होने की वजह से उसका रोजगार चौपट हो जाता। समय-असमय के लिये कुछ रख छोड़ना उसने सीखा ही न था। अतएव, उन दिनों प्रायः ही उसे भूखे अथवा आधा पेट खाकर रह जाना पड़ता। इस आड़े समय में भूले-भटके भी हरेकृष्ण की परछाईं उसके द्वार पर नहीं पड़ती। यह असीम सूनापन भी उसे कम कष्ट नहीं देता।"

"हरेकृष्ण की पत्नी बराबर तकाजे करती कि जरा बनवारी से एक-आध बार भेंट भी तो कर आओ। बेचारा बड़े संकट में है।

"अजी तुम क्या जानो;" तपाक से वह कहता, "विपद् में किसी से मिलना-मिलाना सर्वथा अनुचित है। दुःख अकेले ही झेलना चाहिये। जब वसन्त उतरेगा, उसकी फुलवारी खिले हुए सुंदर फूलों की मस्तानी महँक से भर जायगी तो वह मुझे उपहार में बहुतेरे फल-फूल देकर खूब ही प्रसन्न होगा।"

"क्या खूब युक्ति है! बन्धुत्व के विषय में ऐसा मार्मिक व्याख्यान शायद ही कोई आचार्य दे सके।" हरेकृष्ण की पत्नी ने कहा।

माता-पिता की बातें सुनकर छोटे लड़के ने कहा—"बनवारी क्यों नहीं हमारे घर आते हैं। भोजन की उन्हें क्या कमी? मैं अपना हिस्सा काटकर उन्हें दूँगा—ये खरगोश के बच्चे दिखला दूँगा।"

हरेकृष्ण ने उत्तर दिया—"मूर्ख! मैं तुम्हें नाहक ही स्कूल भेजकर रुपया पानी में फेंकने की बेवकूफी करता हूँ। उसे यदि यहाँ लाऊँ, तो हमारी अच्छी अवस्था देखकर उसके मन में हिंसा होगी। फिर हिंसा के कारण मनुष्य के स्वभाव में बहुत बड़ा हेर-फेर उपस्थित होता है। मैं उसका दिली दोस्त हूँ। मैं नहीं चाहता कि उसका स्वभाव बिगड़ जाय और यदि वह यहाँ आकर मुझसे कुछ पैंचा-उधार लेने का भाव प्रकट करे, तो अन्न देने से मैं लाचार हूँ। समझ सकते हो न, अन्न और मित्रता दोनों दो वस्तु हैं, एक नहीं!"

लड़के का चेहरा तमतमा उठा। सिर झुकाकर उसने चाय

की प्याली में मुँह लगाया। हरेकृष्ण ने तसल्ली दी—"अच्छा, इस बार मैंने तुम्हें मुआफ किया।"

"वाह क्या ही खासी वक्तृता तुम्हारी होती है!" प्याली में चाय उड़ेलते हुए पत्नी ने कहा।

"समाप्त हो गई कहानी?" पण्डुक ने पूछा।

फूलसुँघी बोली—"अरे! यहीं तो शुरू हुई!"

पण्डुक कहने लगा—"आजकल के कहानीकारों की यह नीति हो गयी है कि कहानी का अन्तिम अंश कह लेते हैं पहले; फिर धीरे-धीरे सुस्ताकर शुरू का अंश कहते रहते हैं। बीच का हिस्सा कहानी के अन्त के लिये रक्खे रहते हैं। कहानी की यही आधुनिक पद्धति है। उस दिन इसी बाँध पर से जाते-जाते एक युवा से एक धुरंधर समालोचक यही कह रहे थे। बड़ी देर तक उन्होंने युवा को समझाया, जिससे मेरे मन में भी यही सत्य मजीठ के रंग की तरह गाढ़ा और पक्का चढ़ गया। वस्तुतः, उनकी बात गलत हो कैसे सकती है? उनके सिर का अधिकांश सफाचट था और आँखों पर नीले रंग की ऐनक जो बैठी थी! मार्के की बात यह भी थी कि युवा की प्रत्येक बात पर प्रौढ़ हँसी के साथ केवल 'हूँ' कहकर ही रह जाते थे। जाने भी दो, कहो तुम अपनी अधूरी कहानी। उसके प्रति मेरे मन में सहानुभूति का उद्रेक होने लगा है। मेरे मन में भी भाँति-भाँति की अनुभूति इकट्ठी है न!"

फुलसुँघी ने तार लगाया—"शीतकाल का अन्त होते ही वनवारी की फुलवारी हँस उठी, पेड़-पौधे फल-फूलों से लद गये।

श्रीमती हरेकृष्ण बोली—"अब बनवारी से एक बार भेंट करने जाऊँगी।"

"आह, तुम तो दया और ममता की मूर्ति ही हो! पराई चिन्ता में लीन रहकर ही तुम्हारी घड़ियाँ बीतती हैं। अच्छा, जाती हो तो जाओ, मगर वह बड़ी टोकरी ले जाना न भूलना, भरकर फूल लेती आना।"

एक दिन हरेकृष्ण उसकी फुलवारी में जाकर उपस्थित हुआ। "क्यों भाई, अच्छे हो तो?"

फावड़े के सहारे खड़े रहकर बनवारी ने प्रसन्नता से कहा—"हाँ भाई, सकुशल हूँ। अपनी कहो, बाल-बच्चों की खैरियत है न?"

"बिलकुल ठीक है। तुम्हारा जाड़ा कैसा बीता?"

"भला नहीं। यह पूछने के लिये हृदय से धन्यवाद देता हूँ। अब वसन्त का आगमन हुआ, फल-फूल लगने लगे।"

"जाड़े भर हमें तुम्हारी बड़ी ही फिकर थी। रात-दिन केवल यही सोचता कि न जानें तुम्हारे दिन कैसे कटेंगे।"

"तुम लोग मेरे सच्चे मित्र और हितैषी हो। मुझे चिन्ता थी कि शायद मुझे भूल गये।"

"बड़े दुख की बात है कि तुम्हें इसकी सोच थी। मित्रता भी कभी भूली जा सकती है? अन्तस्तल के कवित्व को तुम संभवतः समझ नहीं सकते। यह गुलाब तो बहुत सुन्दर है!"

"सचमुच ही ये बहुत सुन्दर हैं। यहाँ के जमींदार की लड़की

ने कहला भेजा है कि ये गुलाब वे लेंगी। जो कीमत मैं पाऊँगा, उससे माल ढोने के लिये एक ठेला मोल लूँगा।"

"क्यों तुम्हें था तो ? बेच दिया क्या ?"

"हाँ, भाई ! जाड़े के दिन मेरे बड़े बुरे रहे। पहले तो चाँदी के बटन गिरवीं रक्खे। जब उससे पूरा न पड़ा, तो ठेला बेचने पर बाध्य होना पड़ा। अब जो आमदनी होगी, उससे फिर वे चीजें कर लूँगा।"

"देखो ! तुम्हें ठेला मोल लेने की कोई जरूरत नहीं। मेरे पास एक है, मैं तुम्हें वह दूँगा। इधर-उधर कुछ टूट-टाट गया है, मरम्मत करा लेने से काम चल जायगा। फिर, तुम्हें आम छोड़-कर पेड़ गिनने से थोड़े ही काम है ? एक तरफ कुछ बेकाम है और पहिये के दो-एक डण्डे गायब हो गये हैं। जो हो, वह मैं तुम्हें दे दूँगा अवश्य। ऐसी दानवीरता साधारण व्यक्ति नहीं दिखा सकते; परन्तु मैं तो मित्र के लिये त्याग करने के महत्त्व को पूर्णरूपेण जानता हूँ। मुझे एक नया ठेला भी है। सच मानो वह ठेला मैं तुम्हें अवश्य दूँगा।"

कृतज्ञता के बोझ से दबते हुए बनवारी ने कहा—"यह तुम्हारी दानवीरता का खासा परिचय है। मेरे पास एक तख्ता है भी, मैं ठेले की मरम्मत कर लूँगा।"

"अच्छा, तुम्हें तख्ता है ! मुझे उसीकी तो सख्त जरूरत है। एक जगह छत का तख्ता मसक गया है, उसके नहीं मूँदने पर पानी चूकर अनाज-पानी को बर्बाद कर देगा। याद दिलाकर

तुमने बड़ा ही उपकार किया। अच्छे कार्य किस प्रकार स्वयं ही दूसरे भले कार्यों में आ मिलते हैं! मुझसे तुम्हें ठेला मिला, बदले में तुम मुझे तख्ता देना। हाँ, सोच-विचारकर देखने पर इसमें सन्देह रह ही नहीं जायगा कि ठेले की कीमत तख्ते से अधिक है। मित्रता के नाते इस हिसाब-किताब की आवश्यकता नहीं। जरा ले तो आओ उसे, मैं छत में काम लगा दूँ। शुभस्य शीघ्रम्।

बनवारी ने हामी भरी और उसी दम तख्ता ला दिया।

"तख्ता कुछ ऐसा बड़ा नहीं है। तुम्हें ठेला मरम्मत करने के लिये कुछ रह तो गया नहीं ? खैर, यह गलती हमारी नहीं। हाँ, जब मुझसे तुम्हें ठेला मिला, तब तो तुम मुझे एक डाली फूल दोगे ही।"

अचरज में पड़कर उसने कहा—"एक डाली ?" बनवारी जानता था कि एक डाली से तो अधिक फूल होगा भी नहीं। यदि सब उसे ही दे देगा, तो बेचने के लिये बाकी कुछ बच ही नहीं रहेगा। बटन भी वह नहीं छुड़ा सकेगा।

हरेकृष्ण बोला—"जब तुमने मुझसे ठेला पाया, तो बदले में दो-एक गुलाब की इच्छा मैं नहीं रखता। मेरी धारणा, हो सकती है वह गलत हो, यह है कि मित्रता में स्वार्थ की गुंजाइश नहीं रह सकती।"

"मेरे अनन्य ! मैं तुम्हारी बात से बाहर नहीं, बाग के सारे ही फूल तुम्हारे हैं। तुम्हारे आदर-सत्कार में मुझे जो खुशी हासिल होती है, शायद आकाश का चाँद पाकर भी वह उपलब्ध

न हो। रहे बटन, न छुड़ा सकूँगा न सही।" बनवारी गया और बात की बात में डाली को गुलाबों से भरकर ले आया।

अनेकों दुआएँ देकर हरेकृष्ण कठोर तख्ते को कंधे पर लादकर तथा फूलों की डाली एक हाथ में लेकर चलता बना।

ठेला पाने की मधुर आशा से बनवारी ने भी उसे अनेकों धन्यवाद दिये।

दूसरे दिन काम करते समय हरेकृष्ण की पुकार सुनकर बनवारी बाहर निकला। देखा, बन्धु की पीठ पर एक भरा-पूरा बोरा लदा था।

हरेकृष्ण ने कहा—"भाई जरा यह धान बाजार में बेचकर मेरी सहायता करो।"

"मुझे तो आज जरा भी फुर्सत नहीं। पौधों को पटाना है, जरा निड़ानी भी लगानी है। लताएँ इधर-उधर हो गयी हैं, उन्हें ठीक करना है।"

"वाह भाई, मैंने तुम्हें ठेला दिया, बदले में तुम मेरे लिये इतना भी नहीं कर सकते।"

"मुआफ करो भाई, ऐसा क्या है जो मैं तुम्हारे लिये नहीं कर सकता।" बनवारी चादर ले आया और धान का बोरा लेकर बाजार की राह ली।

चिलचिलाती धूप थी। तीन कोस की लम्बी दूरी उसने तय की। राह में एक जगह जरा देर के लिये ठहरना भी पड़ा था। अच्छी दर में धान बेचकर फिर वह लौट आया। चोर-डकैतों के

डर से राह में फिर उसे कहीं सुस्ता लेने की हिम्मत नहीं पड़ी। सोने के समय एक लम्बी साँस लेकर आप ही आप वह बोला—"आज मिहनत करारी पड़ी; मगर सन्तोष की बात यह है कि हरकिसुन की बात मान्य हुई—वह मुझे ठेला देगा।"

बनवारी सो ही रहा था कि सवेरे रुपये के लिये हरकिसुन आ दाखिल हुआ। वह जानता था कि दिन तक सोने की आदत बनवारी की नहीं, तौ भी बोला "लेकिन भई, तुम बड़े ही आलसी हो। मेरी धारणा थी कि जब मैं तुम्हें ठेला दूँगा, तो तुम सन्तोषजनक काम करोगे। जानते हो, आलस पाप है। मैं हर्गिज नहीं चाहता कि मेरा कोई मित्र आलस में डूबा रहे। स्पष्टवादिता के लिये क्षमा करोगे। सच तो यह है कि बन्धुत्व में भी भीतर एक तथा बाहर एक का व्यवहार रहा, तो बन्धुत्व क्या ? इसी नाते खरी बातें कहने का साहस कर सका हूँ। 'हाँ, में हाँ' मिलानेवालों को मैं मित्र ही नहीं समझता। दिली दोस्त तो मैं उसे मानता हूँ, जो मित्र की भलाई के लिये अप्रिय बातें सुनाने से भी नहीं चूकते।"

"भाई हरकिसुन, तुम्हारे कथन की सत्यता में सन्देह नहीं। परन्तु भाई, कल हद से ज्यादा थक जाने के कारण उठने को जी नहीं चाहता था। इच्छा हो रही थी और कुछ क्षण पक्षी के गीत सुनने की। उससे मुझे काम करने में आनन्द और उत्साह मिलता है।"

"जरा हाथ-मुँह धोकर मेरे यहाँ आना," हरकिसुन बोला—"मेरी छत मरम्मत करने में मदद देना, हाँ ?"

दो दिन से वाग के काम जैसे के तैसे पड़े थे। अतः जाने की इच्छा बनवारी को तिलमात्र भी न थी। परन्तु, हरकिसुन उसका सच्चा दोस्त है, तग्गा-तोड़ जवाब 'ना' दे तो कैसे ? संकोच के साथ उसने पूछा—"यदि कारणवश न पहुँच सकूँ तो क्या बंधुत्व की मर्य्यादा का उल्लंघन होगा ?"

"जब मैं ठेला ही दे रहा हूँ, तो अधिक कुछ कहना फिजूल है। हाँ, बात यह है कि यदि तुम न आओ तो मुझे ही वह काम करना होगा।"

"ऐसा भी हो सकता है!" बनवारी ने खाट छोड़ दी। झटपट मुँह-हाथ धो लिया और कंधे पर अंगोछा रखकर छत मरम्मत करने को चल पड़ा।

काम समाप्त होते संध्या हो गयी। हरकिसुन ने आकर पूछा—"क्यों, हो गया ?"

"हाँ," बनवारी ने उत्तर दिया और सीढ़ी होकर वह उतर आया। हरकिसुन ने दूर की कही—"लेकिन, जो हो भई, दूसरे का कोई काम कर देने पर असीम आनन्द होता है।"

"तुम्हारी बातों में मुझे बड़ा आनन्द मिलता है," कपाल का पसीना पोंछकर बनवारी ने कहा—"अच्छा भाई हरकिसुन! यह तो कहो कि तुम्हारी-जैसी बातें हमलोगों के मुँह से क्यों नहीं कढतीं ?"

"कढ़ूँगी, कढ़ूँगी। अभी मिताई की बाहरी ओर को ही तुम देख सकते हो; एक दिन इसकी निगूढ़ सत्यता भी जानने को बाकी न रहेगी। इसके सत्य और महत्ता को जान पाओगे।"

"मै समझ सकूँगा ?"

"क्यों नहीं ? आज बड़ी मिहनत की है तुमने, जाकर आराम करो। कल एक बार बकरियों को पहाड़ पर से चरा लाना।"

बनवारी सहमत हुआ। दूसरे दिन हरकिसुन बकरियों को उसके घर तक पहुँचा आया। बनवारी दिन भर बकरियों के पीछे हैरान-हैरान रहा। शाम को जब वह लौटा, तो अत्यधिक थकावट मालूम हो रही थी। सो पड़ा और सबेरे दिन निकल आने पर ही उठा। फुलवारी की ओर इधर कई दिनों से देखने का भी समय न मिला था। आज वह पहले उधर ही दौड़ा। कभी-कभी उसके मन में आता कि मेरे व्यवहार से फूल के पौधे सोचते होंगे कि मैं उन्हें भूल गया हूँ। वे चाहे जो समझें, हरकिसुन की मिताई मैं लाभ कर सका हूँ। वह ठेला देने का वचन दे चुका है, उसकी दातव्यवृत्ति का यह सुपरिचय है।

हरकिसुन की कोई भी बात वह नहीं उठाता। उससे बंधुत्व-विषयक नीति-कथाएँ बड़े ध्यान से वह सुनता और रात को उन्हें मन ही मन पढ़ता। उसके विचार से हरकिसुन-जैसे ज्ञानवान् व्यक्ति कम ही मिल सकते हैं।

एक दिन रात को बनवारी के द्वार पर किसीने धक्का दिया। बाहर भयंकर आँधी की प्रलय हुंकार सुनायी दे रही थी। द्वार पर

पुनः आघात पड़ा। इस भीषण रात्रि में कोई राही कदाचित् मुश्किल में पड़ा है,यही सोचकर वह द्वार खोलने को उठा। खोलने पर उसने देखा, हाथ में लालटेन लिये हरकिसुन खड़ा था। उसके मुख-मण्डल की सुर्खी उड़ गयी थी। उसने कहा—"भाई वनवारी, बड़ी मुश्किल में पड़ा हूँ। जीने से गिरकर मेरे छोटे लड़के की हड्डी-पसली चूर-चूर हो गयी है। मगर मुसीबत यह कि उसे इस भयंकर रात में छोड़कर डॉक्टर के यहाँ जाना कैसा तो लगता है। यदि तुम तकलीफ करो तो........। हाँ, जब मैंने तुम्हें ठेला देने का वचन दिया है, तो तुम्हें मेरी इतनी भलाई तो करनी ही चाहिये।

"यह भी कहने की बात है। जरा अपनी लालटेन दो, इस भीषण अंधकार में कहीं गिर-पड़ पड़ूँ।"

"भई, तुमने मुझे मुश्किल में डाल दिया। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि यह हाल की खरीदी हुई है। इस दुर्योग में कहीं टूट-फूट जाय।"

"रहने भी दो, कोई हर्ज नहीं।" वनवारी ने एक मोटी चादर ओढ़ ली और आँधी-पानी में डॉक्टर के घर की ओर लपका।

रात मानो प्रलय की थी। तूफान उसे मृत्यु-यन्त्रणा दे रहा था। किन्तु, वह साहस का पुतला बिना कहीं जरा देर रुके पूरे तीन घंटे में डॉक्टर के यहाँ पहुँचा और द्वार की कुण्डी खटखटाने लगा।

भीतर से डॉक्टर साहब ने पूछा—"कौन ?"

"मेरा नाम बनवारी है।"

"इतनी रात में ?"

"आपको चलने की तकलीफ उठानी पड़ेगी। हरकिसुन का लड़का जीने से अचानक गिरकर सख्त घायल हो गया है।"

"अच्छा, मैं तैयार होलूँ।" साईस से घोड़ा तैयार कराकर डॉक्टर बाबू चल पड़े। बनवारी सड़क पर फिर अन्धकार में जा मिला।

मूसलाधार वृष्टि होने लगी। वायु प्रबल वेग से झोंके लेने लगी। अंधकार मे अपना हाथ नहीं दिखायी देता। सहसा बनवारी के पाँव झूठे हो गये और वह एक अथाह जलपूर्ण खाई में जा रहा।

दूसरे दिन कुछ चरवाहे बालकों ने देखा कि बनवारी की लाश पानी में उतरा रही है। पानी से उसे निकालकर वे ले गये। टोले-मुहल्ले के लोग उसकी लाश की अंतिम क्रिया करने को तैयार हुए। मुख में अग्नि-प्रदान कौन करेगा, इसीमें मुश्किल अटकी। इतने में—"बनवारी मेरा दिली दोस्त था, अतः यह भार मेरा है।" कहता हुआ हरकिसुन आ दाखिल हुआ।

कोई एक बोला—"बनवारी की मृत्यु से हम लोगों की बड़ी हानि हुई।"

कनखियों से उसे ताककर हरकिसुन बोला—"हमारी क्षति के आगे तुम्हारी क्षति की क्या बिसात ? और तुम्हारी क्षति हुई भी क्या होगी ? मैंने तो उसे ठेला देने को कहा था, एक प्रकार

से दे ही चुका था। अब मैं उसे लेकर करूँ भी तो क्या ? उसकी मरम्मत भी नहीं की जा सकती, दो पैसे भी बेचने पर न मिलेंगे। खैर, ठोकर खाकर सीख तो गया। त्याग करके दान करने ही से क्षति उठाने का भी भागी होना होता है। अब मैं कभी किसीको कुछ न दूँगा।"

पण्डुक ने एक लम्बी साँस ली। फुलसुँघी बोली—'कहानी शेष हुई।'

पण्डुक ने विस्मित होकर पूछा —"और हरकिसुन का क्या हुआ, यह तो नहीं बताया ?"

"उसकी बाबत मुझे इससे अधिक नहीं मालूम और न यह जानने की उत्सुकता ही होती है।"

"कदाचित् तुममें सहानुभूति का माद्दा बिलकुल नहीं।" पण्डुक ने ऊँची आवाज में कहा।

फुलसुँघी बोली—"मालूम होता है, तुम कहानी की जड़ ही न समझ सके।"

पण्डुक ने पूछा,—"वह क्या ?"

"उपदेश।"

"तो तुम्हारे कहने का अभिप्राय क्या यही है कि सभी कहानियों में उपदेश रहना चाहिये ?"

"बेशक ! फिर यह देखना भी तो है कि उससे हमने सीखा क्या ?"

पण्डुक क्रोधित होकर बोला—"यदि तुमने मुझसे यह पहले

ही कह दिया होता, तो मै तुम्हारी कहानी हर्गिज नहीं सुनता।"

बत्तख ने पूछा—"मण्डुक! तुम्हें कैसा जँचा?"

"सद्‌गुण तो उसमें है, पर आजीवन अविवाहित रहने के कारण माँ-बाप के हृदय का उसे अनुभव नहीं। कहानी में उपदेश है, यह कहकर मैंने रंग में भंग कर दिया।"

"इस तरह की कहानी कहना आसान नहीं है।" अपनी राय देकर बत्तख भी पानी में तैरने लगा।"

मुझे जो कहना था, वह इस कहानी द्वारा प्रकट हो गया। अभिप्राय यह कि मानव-हृदय की किसी भी अनुभूति का हृदय-स्पर्शी, मार्मिक वर्णन कर आनन्द दान करना ही कहानी का मुख्य काम है। इसपर यह प्रश्न किया जा सकता है कि तो भी टॉल्स्टॉय की रचनाएँ तो शिक्षा और आनन्द दोनों ही देती हैं? देती हैं ठीक। वह इसलिये कि टॉल्स्टॉय शिक्षा और रस को सम्मिलित रूप में ही देखा करते थे। उनकी धारणा थी आनन्द द्वारा ही शिक्षा देने की; और वस्तुतः जहाँ कला है, वही सत्‌शिक्षा है।

भारतीय कलाकारों पर भी इसी विचार की छाप है। परन्तु, संसार के और किसी देश के साहित्यिकों की धारणा ऐसी नहीं। इसलिये जोर देकर और अधिक कहना फिजूल है। हमें कहानी मिलनी चाहिये। हाँ, इतना खयाल रहे कि कहानी में जबरन शिक्षा घुसेड़ देना सर्वथा अनुचित है। किसी तरह से स्वयं ही आ जाय, यह बात दूसरी है। कहानी पर व्यर्थ का बोझ लाद देना सरासर अन्याय है।

मनुष्य को मनुष्य रूप में अंकित करो, शिक्षा आप निकल आयगी। सूर्यास्त का स्वाभाविक वर्णन करो, वह तुम्हारे अन्दर किस दार्शनिक भावना का उद्रेक करता है, यह बताना उचित नहीं। पाठक के मन में चाहे जिस भाव का उदय हो, होने दो। जहाँ सच्ची कला है, वहाँ कुछ सीखने का है ही। किन्तु, प्रकृति पर अपना कानून न लगाओ। *

---

* Draw life to the life and your moral will draw itself. If you are rendering a sunset, do not attempt to put in the metaphysical subjective that the sunset raises in you, but catch the sunset and the other things will come to your reader. Every work of art has a profound moral significance, but you must not attempt to impose your own laws upon nature."—
"Education Sentimental."

कहानी सुन्दर कैसे हो ?

मैक्सिम गोर्की से स्वेडेनव्त्सोफ इवानोविच ने एकबार कहा था—"कहानी तो वह है, जो पाठकों के मन पर चोट करे; उस पर डंडे की चोट की तरह बैठ जाय।"

वस्तुतः, कहानी यदि जिगर में बैठ नहीं जाती, तो समझना चाहिये कि अपने उद्देश्य में वह सफल नहीं हुई। इस उद्देश्य-रक्षा के लिये उसके प्रत्येक अंग पर नियन्त्रण की अत्यन्त आवश्यकता है।

सुन्दर मुख हमें सहज ही आकृष्ट करता है। चूँकि वह हमें अच्छा लगता है, इसलिये हम व्यक्ति के गुण, स्वभाव और आचार-व्यवहार की खबर न रखते हुए भी उसे अच्छा कह बैठते हैं। किसी हालत में यह मनुष्य की कमजोरी कही जा सकती है; परन्तु प्रकृतिगत स्वभाव यही है कि बाहरी सुन्दरता शीघ्रता से मानव-हृदय को अपनी ओर आकर्षित करती है।

स्वभाव, गुण, व्यवहार आदि तो पीछे जानने की चीज हैं।

इसी कारण से कहानी के शीर्षक का उत्कृष्ट और आकर्षक होना अत्यावश्यक है। इसका मतलब यह नहीं कि भाव, विषय जैसा-तैसा भी होने से काम चल सकता है; वरन् इसका मतलव यह है कि भाव और विषय अत्यन्त सुन्दर ही क्यों न हों, यदि शीर्षक में आकर्षित करने की सुन्दरता, नवीनता अथवा विचित्रता का अभाव है, तो कोई फूटी निगाहों भी उस ओर नहीं देखेगा। अधिकतर पाठक कहानी की उत्कृष्टता और निकृष्टता का फैसला उसके शीर्षक को देखकर कर लिया करते हैं। जिस प्रकार वाणिज्य-व्यवसायवाले चुटीले और आकर्षक विज्ञापन देकर खरीदारों को अपनी ओर खींच लिया करते हैं, उसी प्रकार कम से कम शीर्षक के आकर्षण से पाठक को इसपर तो बाध्य किया ही जा सकता है कि वे कहानी पढ़ें।

कई ऐसा भी कह सकते हैं कि अच्छी चीज के लिये दिखावे की कोई जरूरत नहीं होती। लेकिन, इसे हम दिखावा नहीं कह सकते, यह तो कहानी की सुन्दरता के लिये आवश्यक है। यदि किसी का शरीर सुन्दर है, पुष्ट है; परन्तु वह कमीज पहने और उसका मुँह सूखे सोंठ-सा लगे, तो हम क्या अनुमान करेंगे ? यही कि वह पुरुष अच्छा नहीं। बस, कहानी के साथ भी यही बात लागू है। पहले लोग शीर्षक ही देखेंगे, यदि वह भद्दा और असुन्दर होगा, तो पढ़कर समय बर्बाद करना समझेंगे। इस प्रकार कला-पूर्ण एव उत्कृष्ट कहानी भी शीर्षक में आकर्षण के अभाव के

कारण निरुद्देश्य और बेकार हो जाती है; क्योंकि लोग उसे पढ़ते ही नहीं। वे तो शीर्षक देखकर ही भड़क उठते हैं कि "हाथ कंगन को आरसी क्या ?"

लेकिन, यह भी आवश्यक है कि शीर्षक बे-मतलब का न हो, उससे कहानी का कोई उद्देश्य-साधन हो हो; नहीं तो बेतुक होने से फल विपरीत होता है। पाठक शीर्षक के अनुसार कुछ न कुछ निश्चय कर लेते हैं, हो सकता है कि निष्कर्ष उनके अनुमान के विरुद्ध निकले; परन्तु यदि शीर्षक महज आकर्षित करने के अलावे कहानी से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखता हो, तो पाठकों की जगी हुई उत्सुकता मानो विरक्त-सी हो जाती है और कहानी का महत्व उनके आगे कुछ भी नहीं रहता। इसलिये शीर्षक का कहानी से सम्बन्ध रखना नितान्त आवश्यक है। साथ ही शीर्षक सामान्य भी नहीं होना चाहिये। उसमें किसी न किसी प्रकार की विशेषता अवश्य हो। विशिष्टता के साथ नवीनता का अन्योन्याश्रय संबंध है। अतः, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कहानी के शीर्षक में नवीनता भी होनी चाहिये।

शीर्षक का प्रयोग कई तरह से किया जाता है।

(क) कहानी के मुख्य पात्र के नाम पर; यथा—'ढपोर संख' 'गुंडा' 'बडकी भौजी', 'पान वाली' इत्यादि।

(ख) कहानी के प्रधान विषय, भाव अथवा रस के आधार पर; जैसे—'प्रभाव', 'बुढ़ापा', 'मधुर', पराजय', 'मिलन-मुहूर्त' आदि।

(ग) कहानी की प्रधान घटना के अनुसार; यथा—'गृहदाह', 'अंधेर', 'अग्नि-समाधि' इत्यादि ।

(घ) कहानी की मुख्य वस्तु अथवा दृश्य के अनुसार; जैसे—'आँधी', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'सोहाग की साड़ी', 'दूध का दाम' आदि ।

(ङ) स्थान का सूचक ; यथा—'ईदगाह' ।

संक्षेप में शीर्षक के ये ही प्रकार हैं। इनके अलावे भी नये और आकर्षक शीर्षक व्यवहार में लाये जा सकते हैं।

आकस्मिक समाप्ति

कहानी की सुन्दरता में चार चाँद लगा देती है उसकी आकस्मिक समाप्ति । उदाहरणार्थ फ्रांस के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक मोपासाँ की 'नेकलेस' कहानी ली जाय ।

मैदेम माथिल्द लोआजेल एक गरीब किरानी की स्त्री थी। एक दिन नाच का निमंत्रण आया। बेचारी के पास गहने-पाते नहीं थे। अतएव अपनी बान्धवी मैदेम फॉरेस्तिये से उसने एक नेकलेस लिया। बदकिस्मती से वह खो गया। लाचार होकर पति-पत्नी ने अपनी सारी जायदाद बेंच-खोंच कर ठीक वैसा ही एक नेकलेस पैंतीस हजार फ्रैंक को खरीदा और मैदेम फाँरेस्तिये के पास भेज दिया। बान्धवी ने बे-गौर किये ही उसको रख लिया।

इधर दोनों पति-पत्नी का दुखमय जीवन शुरू हुआ। चमड़ी से दमड़ी प्यारी हो गयी। ऍड़ी-चोटी का पसीना एक कर कमाने और पेट काटकर पाई-पाई सूम की सम्पत्ति-सी जोड़ने लगे।

दस वर्ष तक असामान्य दुःख सहकर तथा परिश्रम कर उन्होंने ऋण से पिंड छुड़ाया। तत् पश्चात् एक दिन मैदेम माथिल्द लोआजेल ने अपनी वान्धवी से मुलाकात की।

"अहा, माथिल्द, तुम तो कतई पहचानने में नहीं आती हो!"

"तुमसे आखिरी भेंट के बाद हमारे दस वर्ष बड़े संकट के रहे, और महज तुम्हारे ही कारण।"

"वह क्या?"

"तुम्हें अपने नेकलेस की याद है?"

"क्यों नहीं; लेकिन उससे?"

"मैंने उसको खो दिया था।"

"किन्तु, तुम्हीं से तो वह मुझे मिल गया था।"

"वह उसी ढंग का दूसरा था। दस वर्ष तक ऋण चुकाने के लिये हमारे नाकों दम रहे। अब कहीं जान में जान आयी है।

"दूसरा खरीदकर तुमने भेजा था?"

"हाँ, दोनों देखने में एक ही जैसे थे, तुम मालूम न कर सकीं।" माथिल्द के ओठों पर गर्वोदीप्त हँसी की रेखा फूट पड़ी।

फाँरेस्तिये ने विकल होकर माथिल्द के दोनों हाथ धर लिये; "किन्तु वह तो असली हीरे का नहीं था माथिल्द! ज्यादा से ज्यादा उसकी कीमत पाँच-सौ फ्रैंक होगी।"

कहानी का यही अन्त है। फ्रांसीसी इसे denouement अथवा 'रहस्य भेद' कहते हैं। इसके आगे भी अभी बहुत कुछ कहा जा सकता था, परन्तु तब कहानी का सौंदर्य ही नहीं नष्ट हो

जाता, बल्कि उसकी मिट्टी पलीद हो हो जाती। इस आकस्मिक अन्त से पाठकों की उत्सुकता एक विचित्र घपले में पड़ जाती है।

कुछ विद्वानों की राय इस आकस्मिक समाप्ति के विरुद्ध है। परन्तु, सच पूछिये तो कहानी की रोचकता बढ़ाने के लिये इसके मुकाबिले का कोई दूसरा साधन नहीं। बात यह है कि 'भेद' बड़ी उत्सुकता की चीज है। पर्दे के अन्दर से झाँककर छिपनेवाली स्त्री की ओर किसकी आँखें नहीं खिंच जातीं? साँप हम हजारों देखा करते हैं; किन्तु जब तुमड़ीवाला डब्बों में उन्हें लाता है, तो हमारी उत्कट इच्छा होती है उसे देखने की। कहानी में रहस्य का निर्वाह भी ऐसी ही उत्सुकता जगाता है। खासकर Climax (तीव्रतम स्थिति) ज्यों-ज्यों निकट आता है, कहानी में एक अपूर्व वेग का संचार होता है, और उससे भी तीव्र हो जाती है हमारी उत्सुकता। ऐसे समय में निष्कर्ष यदि पाठक की कल्पना या अनुमान के प्रतिकूल दिखाया जाय तब तो सोने में सोहागा। रहस्य का ऐसा खुलासा न कर देना चाहिये कि कहानी सौंदर्यहीन रह जाय। परिणाम सोच लेने का कुछ भार पाठकों पर भी छोड़ देना चाहिये।

पात्र में परिवर्त्तनशील पात्र बहुत ही रोचक होता है। लेकिन ऐसे चरित्र-विकास के लिये संकट उपस्थित करना अत्युत्तम है।

पात्र

जब संकट आता है, तो परिवर्त्तन की संभावना समझनी चाहिये। कहानी में यही परिवर्त्तन-स्थल अथवा Turning point कहलाता है। इस तरह की

परिस्थिति में पात्र से ऐसे ही कार्य कराने चाहिये जिसकी बावत पाठक पहले कुछ निश्चय न कर सकें, अर्थात् पात्र के काम से जरा देर के लिये अथवा उस मुहूर्त्त के लिये पाठक को आश्चर्य-चकित होना पड़े। किन्तु, जो काम पात्र कर गुजरे, वह एकबारगी असंभव न हो।

चरित्र-विकास के लिये घटना-निर्वाचन भी एक महत्वपूर्ण कार्य है। घटनाएँ एक दूसरे से जुड़ी, अभिन्न तो हों; किन्तु उनमें भिन्नता इस बात में हो कि 'आगे क्या होगा' यह कोई पहले ही जान न सके। बंगला के सुप्रसिद्ध औपन्यासिक शरत्-चन्द्र ने इसी विशेषता पर आशातीत ख्याति पायी। आपकी प्रत्येक रचना की यह खासियत है कि एक के बाद एक कार्य और घटना ऐसी हो जाती है, जिसकी पहले से कोई कल्पना ही नहीं कर पाता। परिस्थिति के अनुसार पात्र के जीवन में उत्थान-पतन दिखलाना अत्यावश्यक है भी।

घटना-निर्वाचन

दृश्य और वर्णन मनोहारी हों। शांत प्रकृति में आँधी उठाना और ऐसे समय में उन्मत्त समुद्र की छाती पर नायक को छोड़ देना बहुत अधिक प्रभावित करता है। वर्णन सजीव, स्वाभाविक, सरल और संक्षेप में हो; जिसकी उपयोगिता पाठक को मुग्ध कर सके। ऐसा न हो कि पाठक उससे ऊब उठें।

दृश्य

कथोपकथन द्वारा घटनाओं में गति आती है, पात्रों के

शील-निरूपण में सुविधा होती है और साथ ही मनोरंजकता की भी वृद्धि होती है। विवरण की अपेक्षा रचना में यदि वार्ता की अधिकता हो, तो कहानी अधिक आकर्षक, मनोरंजक और सजीव होगी ; क्योंकि मूक पात्र से कहानी में एक प्रकार की शिथिलता आ जाती है।

कथोपकथन

कथोपकथन किन्तु हो मनुष्योचित। किसी प्रकार को कृत्रिमता वहाँ न आने पाये। भाषा पात्रों के अनुकूल हो, ऐसा न हो कि कोई गँवई आदमी साहित्यिक भाषा में बोल चले, अथवा कोई मुसलमान शुद्ध संस्कृत शब्दों का व्यवहार करे। साधारण स्थिति के पात्रों में यदि अपभ्रंश शब्दों का उपयोग हो, तो बेजा नहीं। उससे उसकी स्वाभाविकता नष्ट नहीं होगी।

कथोपकथन को मनोरंजक और हृदयस्पर्शी बनाने के लिये कुछ नियम बताये गये हैं। जब एक पात्र बोल रहा हो और दूसरा पात्र बीच ही में बोलने लगे, तो इससे संवाद में दोष नहीं आता। यह तो एक गुण है ; क्योंकि इसके द्वारा मनोभाव की अभिव्यक्ति बड़ी सुन्दरता से हो जाती है।

पात्र से किसी प्रश्न का उत्तर सामान्य कथन के रूप में न दिलाकर उससे ऐसा उल्लेख कराना चाहिये कि ऐसा क्यों हुआ। तात्पर्य यह है कि उत्तर केवल ग्रामोफोन के रेकार्ड के समान न हों। उनमें 'क्यों' और 'कैसे' की जिज्ञासा होनी चाहिये।

लेखक को चाहिये कि वह पात्र से किसी प्रश्न का उत्तर दिलाने के स्थान में उसमें एक नवीन प्रश्न की जिज्ञासा का आविर्भाव कर दे।

इसी प्रकार पात्र यदि किसी प्रश्न का उत्तर दे, तो उसे प्रश्न में प्रयुक्त शब्दावली से भिन्न शब्दों का प्रयोग करना चाहिये।

शैली

वाक्यों के प्रयोग में धारावाहिकता की रक्षा करनी आवश्यक ह। छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग कभी बहुत सुन्दर होता है। उससे भावों की अभिव्यक्ति में बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु, कभी-कभी धारावाहिकता को वह नष्ट भी करता है। भाव-प्रधान अथवा रस-प्रधान कहानी में छोटे-छोटे वाक्यों के प्रयोग द्वारा सुन्दरता से भाव व्यक्त होते हैं।

शैली के लिये भाषा सरल और चलती हुई ही होनी चाहिये। सजाना और सुन्दर बनाना तो लेखक की प्रतिभा पर निर्भर है। आकार में कहानी जितनी छोटी हो सके, उतनी ही अच्छी है। छोटे आकार में ही सुन्दर भावों द्वारा कहानी मानव-हृदय पर अपने प्रभाव की गहरी छाप छोड़ दे, यही उसकी सुन्दरता, यही उसका उद्देश्य-पालन और यही कला की सार्थकता है।

यथार्थवाद

साहित्यसेवियों की एक गोष्ठी ऐसी भी है, जो जो बात जैसी है उसका तद्वत् चित्र खींचना ही कला की श्रेष्ठता समझती है। इसे यथार्थवाद (Realism) कहा जाता है।

यथार्थवाद की उत्पत्ति का मूल यह धारणा थी कि जो हम जानते हैं उसे विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखना होगा। अनुभूति की कोई सार्थकता नहीं ; वह एक स्वप्नमात्र है।

उत्पत्ति की कथा

कहना फिजूल होगा कि इस भावना की जड़ साहित्य में बोई विज्ञान ने। जब विज्ञान-सूर्य का यूरोप में सबसे पहले उदय हुआ, तो उसके साथ ही साथ कला में भी विज्ञान प्रवेश करने लगा। कलाकार भी अपनी कला को तर्क और मनोविज्ञान की कसौटी पर कसने लगे।

सच तो यह है कि वैज्ञानिक और साहित्यिक की आँखें भिन्न हैं। देखने की पृथकता से रुचि में विभिन्नता आवेगी ही। जहाँ

विज्ञान का संबंध है मस्तिष्क से, वहाँ साहित्य का संबंध हृदय से है। साहित्य में आनन्द है। आनन्द की प्रतिष्ठा होती है रस से, एवं रस का संबंध हृदय से है। 'सत्यं, शिवं सुन्दरम्' से यदि हृदय का संबध नहीं, तो रचना कौड़ी की नहीं। इसीलिये साहित्य सर्वदा भाव के विषयों का आश्रय लेकर फलता-फूलता है। परंतु, विज्ञान का दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है।

मेघों को विरही यक्ष का संवाद-वाहक बनाकर कालिदास ने साहित्य में अमर-काव्य मेघदूत की रचना की। किन्तु, वैज्ञानिकों की नजरों में मेघ का कुछ मूल्य नहीं। सूर्य के उत्ताप से पृथ्वी के जलकण भाप बनकर उड़ गये—बस मेघ उसीका समूह है। वायु से टकराकर जल-बूंदों के रूप में वह अपना अस्तित्व खो देगा। इसमें फिर सौन्दर्य की जगह कहाँ?

विज्ञान से प्रभावित होकर ही Comte ने Positivism का प्रचार किया। उसीसे यथार्थवाद की उत्पत्ति हुई। साहित्यिकों ने कहना शुरू किया, सौन्दर्य तथा आदर्श को लेकर अब काम नहीं चल सकता। अब हम वही लिखेंगे, जो प्रत्यक्ष है; उसे देखकर मन को जो भावनाएँ आन्दोलित करती हैं, उन्हीं की साहित्य में प्रतिष्ठा करेंगे।

किन्तु, यथार्थवाद का असली जन्मदाता थियोफाइल गोतिये (Theophile Gautier) माना जाता है। गोतिये का समय उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम काल है। सन् १८५७ ई० में इसकी प्रतिष्ठा के लिये उसने अपने अदम्य उत्साह और दुर्दम साहस का

परिचय दिया। । इसके बाद तो गोतिये को गोंकुर बंधु, अल्फोंज दोदे आदि की भी पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई।

गोतिये का कहना था कि उपन्यास के पात्र कल्पित नहीं, सत्य जीव हों। वह केवल शौक-मौज का समूह नहीं, वरन् आत्मा की आरसी और जीवन का चित्र हो। गोंकुर-बन्धु भी यथावत् चित्रण के ही पक्षपाती थे। उनकी राय थी कि उपन्यास जीवन का चित्र नहीं, वह स्वयं जीवन है।

इसके बाद खम ठोककर अखाड़े पर आये एमिल-जोला। परन्तु, इनके 'वाद' को यथार्थवाद के नाम से पुकारना भूल है। वह यथार्थवाद नहीं, बल्कि प्रकृतिवाद (Naturalism) कहा जा सकता है। दोनों वादों में अन्तर मानने में बहुतों को हिचक हो सकती है। दोनों वादों का तात्पर्य 'जो देखना वही प्रकाश करना' है सही; किन्तु, गंभीरतापूर्वक विचार करने पर सूक्ष्म पार्थक्य अवश्य दिखायी पड़ेगा। यथार्थवादी अपनी रचना में सुन्दर और कुत्सित, जैसा भी प्रकृत संसार में पाया जाता है, सबको समानरूप से अंकित करता है। परन्तु, प्रकृतिवादी जीवन को कुत्सित छोड़कर दूसरे रूप में अंकित नहीं करता। उसकी समझ या देखने में जीवन के भीतर कुछ भला है ही नहीं। सारा संसार एक कारागार है; यहाँ के निवासी किसी अपराध के अपराधी हैं।

यथार्थवाद और प्रकृतिवाद

इस धारणा के अनुकरण करने की प्रवृत्ति ने कुछ समय बाद

ऐसा जोर पकड़ा कि साहित्यिकगण घृणित, अश्लील और अपवित्र चित्रण में ही कला-कुशलता तथा कला की चरम सार्थकता मानने लगे। यह देखकर अनातोले-फ्रॉस के मन्तव्य की सत्यता मालूम होती है कि यथावत् चित्र खींचने तथा मनोभाव की जैसी की तैसी अभिव्यक्ति के लिये ठीक वैसी ही घटनाओं और भावों से सटकर निकलना अत्यावश्यक है जरूर; परन्तु लेखक के मस्तिष्क में जो कलुषित भाव होते हैं, यथार्थवाद की आड़ में अपनी रचनाओं में वे उन्हीं सबको भर दिया करते हैं।

रूस के यशस्वी साहित्यिक एन्टन-चेखव की इस विषय में राय है कि मानव का कल्पना-प्रसूत कोई भी स्वप्न, चाहे वह जितना ही अद्भुत, जितना ही भयंकर, जितना ही सुन्दर क्यों न हो, यथार्थ जीवन से अधिक आश्चर्य-सुन्दर हो ही नहीं सकता।

परन्तु, वास्तववादी होते हुए भी प्रसिद्ध कवि कार्ल स्पिटलर ने प्रसंगवश एक बार श्रीयुत रोम्याँ-रोला से कहा था,—"मैं पहले यह सोचा करता था कि वास्तववादी (Realist) और भाववादी (Idealist) दोनों में कौन यथार्थ को अधिक पकड़ सकता है। किन्तु, दोनों की दौड़ मुझे समान ही मालूम पड़ी। मान लीजिये, एक कमरा सजा-सजाया है, दूसरा खाली है। परन्तु, बाहर घटनेवाली घटनायें दोनों कमरों के झरोखों से एक-सी ही दिखाई पड़ती हैं।"

वक्तव्य विषय को जरा विस्तारपूर्वक कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है। असल में बात यह है कि साहित्यिक के आगे

अन्तर्जगत की अपेक्षा यथार्थ जगत बड़ा नहीं। इसीलिये वे इस यथार्थ सत्य पर उतना ध्यान न देकर अभ्यन्तरीण चिरन्तन सत्य को बाहर प्रतिष्ठित करने के लिये उत्सुक और यत्नवान् होते हैं। वस्तुतः, यदि देखा जाय तो बाहरी दीनता, दुर्बलता, अपवित्रता ही प्रकृत मनुष्य का स्वरूप नहीं है। मनुष्य का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है, वह देवता से भी बड़ा है। प्रकृति से लोहा लेने-वाला मनुष्य उद्यमी और बहादुर है। सत्य की खोज में वह मुसीबतें मोल लेता है, पशुता से आठों पहर उसकी लड़ाई होती है। वह बुद्ध की तरह शान्ति का उपासक, संयमी एवं काम-विजयी है। दधीचि अथवा शिवि की भाँति परोपकारी तथा महान् त्यागी है। मनुष्य का प्रकृत स्वरूप यह है, यहाँ है। जहाँ वह दानवता और पशुता की ओर वेग से अग्रसर होता है, उसकी वह दुर्बलता अंकित की जाने पर साहित्य की मर्यादा कलंकित होगी। साहित्य मे तो उसका वह चित्र अंकित होना चाहिये, जब मनुष्य अपनी हीन प्रवृत्तियों पर गौरव पूर्ण विजय प्राप्त कर देवत्व के लिये स्वर्ग की ओर बढ़ता है। साहित्य-कला का इसी-में गौरव है, इसीमें श्रेष्ठता है।

साहित्य कला इसलिये है कि यह रूप और रस की सृष्टि करता है, विषय-वस्तु की उतनी परवाह नहीं करता; क्योंकि अभ्यन्तरीण सत्य की अभिव्यक्ति ही कला की सुन्दरता है। बाहर के रूप-समूह तो उस अन्दरूनी सुन्दरता को प्रकट करने के सहायक हैं। मनुष्य के कार्य, आकार, मुख-मण्डल की रेखाएँ,

आभास-इंगित आदि कुछ नहीं हैं। परन्तु, इनकी इस सार्थकता पर कीमत आँकी जाती है कि ये आत्मा के भाव-प्रकाश में सहायता देते हैं।

मनुष्य न तो पूर्ण रूप से मनुष्य है, न पशु और न देवता ही। किन्तु, उसमें मनुष्यत्व है, देवत्व है एवं पशुता भी है। इसके लिये उसके अन्तस्तल की थाह लेनी पड़ेगी। केवल बाहरी रूप पर विचार करके किसी सत्य पर पहुँचना, मानवता पर अत्याचार करना होगा। हो उसमें पशुता, साहित्यिक को उससे वास्ता क्या? वह तो उसीके अन्दर से एक ऐसे सुन्दर सत्य को ढूँढ़ बाहर करेगा, जो मानव-मन में एक अनिर्वचनीय आनन्द की सृष्टि करे; क्योंकि केवल सत्य की खोज और उसकी अभिव्यक्ति ही कला का काम और सफलता नहीं है। वरन्, उसका काम तो ऐसे सत्य का आविष्कार करना है, जो आनन्दमय हो। ऐसी हालत में यह आवश्यक है कि केवल सत्य की अभिव्यक्ति उचित नहीं; क्योंकि कला का प्रधान गुण सुन्दर भी है।

यथार्थवादी लेखकों में मोपासाँ का स्थान प्रमुख है। आपका कहना है—"जिसकी तुम भाषा में अभिव्यक्ति करने जा रहे हो, उसे देखो, गौर से देखो, भली प्रकार से देखो। फल-स्वरूप तुम्हें उसका वह स्वरूप दिखायी पड़ेगा, जो सर्वथा नवीन है; अर्थात् जिसे पहले किसी दूसरे ने प्रकाश नहीं किया। सभी वस्तुओं में कोई न कोई अंग ऐसा है ही जो प्रकाशित नहीं हुआ। महज मामूली चीज में भी यह बात पायी जाती है; परन्तु ढूँढ़ना

होगा। यदि अग्नि अथवा पेड़ों का वर्णन करना है, तो खड़े-खड़े घंटों उसे निहारो। वे आप ही नवीनता लेकर तुम्हारे आगे आवेंगे। यही अनुभूति साहित्यिकों की मौलिकता है।"

विद्वान् लेखक की बात ध्यान देने योग्य है। केवल यथावत् चित्रण में ही मौलिकता नहीं, कुछ नयापन निकालने में ही लेखक की प्रतिभा का निदर्शन है। फलतः लेखक के पास सरस कल्पना होना अनिवार्य है। Pater का कहना है कि कल्पना-प्रसूत साहित्य केवल यथार्थ की प्रतिच्छाया नहीं, वरन् यथार्थ जगत मन में जिस अनुभूति का उद्रेक करता है, उसीका प्रकृत चित्र है। थोड़ी देर को मान भी लें कि वर्त्तमान समय में यथार्थवाद को कतई छोड़ देने से काम नहीं चलता; फिर भी साहित्यिक में सरस, सुन्दर कल्पना की अतीव आवश्यकता है, जिसकी बदौलत वह जड़-जगत में नई जान फूँक दे। उसके द्वारा वह एक ऐसी नवीनता निकाले जो सत्य, सुन्दर और शिव हो। अन्तस्तल के सत्य की सुन्दरता से अभिव्यक्ति ही सन्तोषप्रद सफलता है। यही लक्ष्य साहित्यिकों का होना चाहिये।

कल्पना का स्थान

एन्टन-चेखव पूरे यथार्थवादी थे। उनके नाटक, उपन्यास, कहानी आदि में इसकी गहरी छाप है। रूस के लोगों का हूबहू चित्रण आपने अपनी कृतियों में किया है। इसपर काउन्ट-लियो-टॉलस्टाय ने आपको फोटोग्राफर कहा था। इससे कहना बुरा न होगा कि वे साहित्य के सिद्धान्त को हृदयंगम नहीं कर

सकें ; क्योंकि साहित्यिकों की तुलना फोटोग्राफर से नहीं, बल्कि चित्र-शिल्पी से की जा सकती है। फोटोग्राफर से चित्र-शिल्पी का काम अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक हूबहू चेहरे को उतार देता है, दूसरा उसके चेहरे पर भीतर की भावनाओं को स्पष्ट अंकित कर देता है। तूलिका से मनुष्य और उसके भाव को खींच देना ही चित्रकला की सार्थकता है।* साहित्य के विषय में भी ठीक यही बात कही जा सकती है। साहित्यिक में केवल दैहिक क्षुधा ही वांछनीय नहीं, वल्कि आत्मा की प्यास का रूप साहित्य में खींचना उपादेय है। इसीलिये साहित्यिक का काम फोटोग्राफर होना नहीं, चित्र-शिल्पी होना है। फोटोग्राफर से चित्र-शिल्पी की विशेषता बताते हुए रूस के प्रमुख कलाविद् डोस्टावेस्की ने एक स्थान पर कहा है—"चित्र-शिल्पी जिस मुख को अंकित करता है, उसमें केवल बाह्य सौन्दर्य की पराकाष्ठा दिखाना ही उसको अभिप्रेत नहीं; वह अभिनव रूप-रस से अन्तर को भी बाहर प्रकाशित करता है। हो सकता है, चित्र बनाते समय मुखमण्डल पर उसका वांछित वह विशेष भाव फूट न पड़े। परन्तु, उसकी विशेषता ही यह है कि हम कल्पना द्वारा उसे पकड़ ले सकते हैं। परन्तु, फोटोग्राफर में जैसे का तैसा खींच लेने के अलावे ऐसी विशेषता नहीं। बाहर की आकृति खिच आती है अवश्य ; किन्तु ऐसा भी होता है कि प्रकृत मनुष्य पहचानने में भी नहीं आता। फोटो से नेपोलियन कभी मूर्ख और

* प्रसिद्ध इटालियन चित्रकार लिओनादो दाभिक।

विसमार्क कभी करुण-हृदय भी मालूम हो सकता है।"

तात्पर्य यह कि मनुष्य की आशा, आकांक्षा का चित्र खींचकर उसमें शिव-सुन्दर का संधान पाना ही साहित्यिक का कार्य है। मानव-जीवन का कठोर सत्य प्रकृत कला का सत्य नहीं। कला का उद्देश्य है उसे एक चिरन्तन रूप देकर, सत्य और सुन्दर के सम्मिलन से, मानव-हृदय में एक अनिर्वचनीय आनन्द की सृष्टि करना। इसीमें साहित्य की सफलता, सुन्दरता और सार्थकता है।

फलतः, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या यथार्थवाद में कला है ही नहीं? सुप्रसिद्ध समालोचक फागुए (Faguet) के शब्दों में 'जो जैसा है, ध्यान से उसे देखना और तद्वत् प्रकाश करना' ही यथार्थवाद (realism) है। इसका मतलब यह नहीं कि जो देखा, जो जी में आया, उसे छिन्न-भिन्न रूप से रख देना ही यथार्थवाद है। यदि यह होता तो रास्ते के एक छोर से दूसरे छोर तक घूम आना ही श्रेष्ठ कला कहलाती। बहुत-सी वस्तुओं से चुन-चुनकर कई एक अर्थपूर्ण वस्तु निकाल ले, फिर जिससे उसके स्वरूप में अदल-बदल न हो, इस तरह उसे सजाया जाय। किन्तु, इससे पाठकों के मन में वैसी ही भावना उद्भूत हो, जैसी उन चीजों को अपनी आँखों देखकर होती—साहित्य का यह भाव तीव्रता से उनके हृदय को स्पर्श करे, यही कला है।

क्या यथार्थवाद में कला नहीं?

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि मानव हृदय को

संस्पर्श करने लायक ही रचना में सजीवता होनी चाहिये। फिर यह बात कतई सन्देह-रहित है कि साहित्यिक को दूर की कौड़ी खींच लानी होगी एवं इसके लिये कल्पना का सहारा लेना पड़ेगा। कल्पना के बिना मौलिकता और नूतनता की स्थापना रचना में की ही नहीं जा सकती। इसलिये कल्पना और भाव का स्थान साहित्य में सर्वोच्च है। पहले से नूतनता और मौलिकता की सृष्टि होती है, दूसरे से आनन्द की; क्योंकि भाव रस का उत्पादक है और रस से ही आनन्द की उपलब्धि होती है। जिस भाव की उत्पत्ति विवेक से होती है, उसमें कुछ तथ्य नहीं रहता। परन्तु, कलाकार द्वारा सृष्ट भाव मानव-जीवन के गंभीर सत्यों पर अवलंबित होते हैं।

हम इस प्रचलित यथार्थवाद के संपूर्ण रूप से विरोधी हैं; क्योंकि इसमें कला के सिद्धांत का निर्बाह नहीं। वरन् व्यभिचार, विलासिता आदि पाशविक प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। मानव सौन्दर्य-साधना के द्वारा ही ज्ञान की चरम सीमा याने जीवन की सार्थकता पर पहुँचते हैं। प्रत्येक युग के साहित्यिक मानव-समाज को इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर कराने की चेष्टा करते रहे हैं। परन्तु, आज पासा पलट गया है। पश्चिमीय देशों के साहित्यिक समाज के सम्मुख एक नया ही सन्देश लेकर खड़े हुए हैं। उनका कहना है— "जो कुत्सित है, जो घृण्य है, वही अत्यन्त सत्य है। प्रेम झूठा है, काम-वासना सच्ची है। मनुष्य पशु है।" ज़ोला ने तो

एक बार यहाँ तक कह दिया था कि "पुरुष और स्त्री में पशुत्व ढूँढ़ना ही मेरा काम था।" मोपासाँ की उक्ति तो और भी भद्दी तथा अश्लील है। उनका कहना है—"स्त्री का प्रेम काम-वासना-मात्र है। सन्देह, द्वेष और बेकली के अलावे उसमें और कुछ नहीं।" आदि।

स्पेन के दो प्रधान औपन्यासिकों ने इसीलिये ऐसे साहित्यिकों के कथनों को प्रलाप कहा है। आपका मत है, आजकल के औपन्यासिकों में कुछ नवीनता ले आने की एक सनक-सी सवार हो गयी है और ये हीन विचार उसीके परिणाम-स्वरूप हैं। रूप और रस को जलाञ्जलि दे एक नई ही प्रणाली से साहित्य-सृष्टि करने पर इन्होंने कमर कस ली है। जिसे ये सत्य कहकर प्रचारित कर रहे हैं, वह संपूर्ण मिथ्या है; परन्तु नयापन लाने के नशे में ये मस्त हैं। अपनी भूल को भूल मानना इन्हें गँवारा नहीं। इसलिये जो ये कह चलते हैं, उसके प्रचार में भी जान लड़ा देते हैं। किन्तु, ईश्वर की श्रेष्ठ-सृष्टि मनुष्य का पाप ही अगर धर्म हो, कुत्सित ही यदि सुन्दर हो, तो जीवन का कोई मूल्य नहीं; पृथ्वी बेकार है, मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं।

उपरोक्त उद्धरणों से हमारा यह तात्पर्य नहीं कि यथार्थवाद कोई मूल्य ही नहीं रखता। उसका मूल्य है, उसकी श्रेष्ठता है; मगर इस पद्धति में नहीं, जो सिर्फ नवीनता ले आने की धुन में काम में लायी जा रही है। यह तो कहना ही पड़ेगा कि केवल ज्यों का त्यों चित्र खींचने से काम नहीं चल सकता। साहित्यिक

के आगे यथार्थ जगत का उतना अधिक मूल्य नहीं। * हाँ, समाज की नारकीय अवस्था का चित्र खींचना बुरा नहीं, न मानव-जीवन के पतनाभिमुख अग्रसर होने का चित्र खींचना ही त्याज्य है; मगर यह ध्यान रखना चाहिये कि जीवन तथा समाज मनुष्य के हों। मनुष्य जब मनुष्यता की सीढ़ी से नीचे उतर जाता है, तो उसमें और पशु में कोई फर्क नहीं रह जाता। ऐसी दशा के जो चित्र होंगे, वे मनुष्य के पतन के अथवा समाज की नारकीय अवस्था के नहीं, प्रत्युत पशु और पशु के समाज के होंगे। इसलिये ऐसा करनेवाला यथार्थवाद अवश्यावश्य अपने सिद्धान्त से च्युत हो जायगा; क्योंकि पशुता का चित्रण करना उसका उद्देश्य नहीं।

साहित्यिक की विशेपता ही यह है कि कुत्सित के भीतर भी वह सौन्दर्य का अनुसंधान करता है। पङ्क से कमल की उत्पत्ति है, इसी प्रकार कुत्सित में भी सौन्दर्य की झलक है। परन्तु, वह सर्व-साधारण की आँखों से सुझाई नहीं पड़ता। यह शिल्पी या साहित्यिक का ही कार्य है।

सर्व-साधारण की नजरों में जो सुन्दर नहीं, घृण्य और अपवित्र है, जिसका कोई मूल्य नहीं, सच्चे कलाविद् उसीके भीतर

---

* भावुकों के मन का जगत बाह्य जगत की अपेक्षा मनुष्य का अधिक अपना है। वह हृदय की सहायता से मनुष्य के हृदय के लिये सुगम हो जाता है। वह हमारे चित्त के प्रभाव से जो विशेषता प्राप्त करता है, मनुष्य के लिये वही सबसे अधिक उपादेय है। —रवीन्द्रना

से एक अभिनव सुन्दरता की सृष्टि करते हैं—जो विश्व को आनन्द देनेवाली होती है। यों तो मिल्टन (Milton) के कथनानुसार—"Good and evil in the field of this world grow—up to-gether almost inseparably."—तथापि कलाकार कुत्सित की ओर फूटी निगाहों न देखकर, सुन्दर की ही अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में करते हैं। क्योंकि, कुत्सित आनन्द-प्रदान नहीं कर सकता, और सृष्टि का तात्पर्य ही आनन्द है। अतः, सच्चे कलाकार मानव-जीवन की उस अवस्था को अपनी अपूर्व प्रतिभा द्वारा साहित्य में अमर कर देते हैं, जब वह पशुता पर विजय पाकर देवगुण से अपने जीवन को सार्थक बनाने की चेष्टा करता है। उसकी दृष्टि ब्राउनिंग (Browning) की-सी रहती है और वह गा उठता है—"O world, as God has made it, all is beauty."

सौन्दर्य कहानी का सार है, उससे रस की उत्पत्ति होती है, रस आनन्द का जन्मदाता है और सौन्दर्य की सृष्टि करना ही कला का उद्देश्य है। बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आत्मा की सुन्दरता अधिक महत्त्व रखती है। कहानी में बाह्य और अन्तरंग सुन्दरता का एक संग ही निर्वाह हो, तो मानव-हृदय में दिव्य भावों की अनुभूति होती है, जो मन के विकार को धो डालती है।

परिशिष्ट

हिन्दी कथा-साहित्य की प्रगति

कुछ लोग कहानियों को उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग की उपज मानते हैं। लेकिन, बात सचमुच ऐसी नहीं है। विश्व की लगभग सभी पुरानी भाषाओं में इसके प्रारंभिक स्वरूप की परछाइं पायी जाती है। मालूम पड़ता है कि भावों को अभिव्यक्त करने का साधन प्राप्त होते ही मनुष्यों में कथा-प्रेम की नींव पड़ी। ऐसा कोई भी काल विश्व के इतिहास में ढूँढ़कर नहीं पाया जाता, जब कि कहानी का प्रचलन किसी न किसी रूप में नहीं रहा हो। हमारे यहाँ के प्राचीन ग्रंथों को अवलोकन करने से बड़ी सुगमता से पता चलता है कि गंभीर से गंभीर विषयों को बोधगम्य कराने के लिये ऋषि-मुनि भी इसे ही सबसे उत्तम साधन मानते थे। ब्राह्मणों, उपनिषदों, बौद्ध-साहित्य एवं जैन-साहित्य आदि से कथा का उपयोग और महत्त्व समझने मे आता है।

हम केवल अपने आपको ही अभिव्यक्त कर संतुष्ट नहीं हो

पाते; औरों के जीवन की बाहरी तथा भीतरी स्थिति का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। हमारी जो मनोवृत्ति हमें मानव-व्यापार की इस अनुरक्ति-सीमा से बाहर नहीं निकलने देती, और दूसरों के सबंध में कुछ न कुछ सुनने, जानने, समझाने तथा कहने के लिये उत्सुक बनाये रखती है, उसीकी प्रेरणा का परिणाम है कथा-साहित्य। *

कुछ लोग ऐसा भी अनुमान लगाते हैं कि जब मानव-जीवन संघर्षमय हो जाता है, तब कहानी का उदय होता है। क्योंकि, जीवन-रक्षा की अन्यान्य चीजें एकत्रित करने के फेर में उसके पास साहित्य के अध्ययन के लिये समय का अभाव-सा रहता है। इसलिये बड़ी किताबें पढ़ने का समय उन्हें नहीं मिलता, और ऐसे ही समय में कहानियों की आवश्यकता भी प्रतीत होती है।

कहानी का उदय चाहे जिस किसी भी कारण से हुआ हो; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि भावों को व्यक्त करने के लिये साधन-सुविधा मिलते ही मनुष्य के हृदय में कथा-प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ। और तभी से, यानी भाषा की शैशवावस्था से ही, साहित्य में किसी न किसी रूप में इसका अस्तित्व पाया जाता है। सच्ची बात तो यह है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्यता की ओर अग्रसर होने लगा, त्यों-त्यों उसके हृदय की अनुभूति एक दूसरे पर प्रकट होने के लिये उसे व्याकुल बनाती रही। इसी अनुभूति के आदान-प्रदान-स्वरूप कहानी का जन्म हुआ।

---

* प्रेमचन्द की उपन्यास-कला—"द्विज"

सत्य, शिव और सुन्दर का पुजारी होना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। इन्हीं तीन रूपों के यथार्थ स्वरूप को हृदयंगम करने की चेष्टा ही जीवन का कार्य है। बच्चा जब सवेरे सोकर उठता है, तो अपनी माँ की ओर देखकर हँसता है। क्योंकि माता ही कल्याणमयी शिवस्वरूप है—शिशु का कल्याण करना ही उसकी कामना है। और, कुछ दिन बाद रंग-चंगी वस्तुओं पर शिशु की आँखें गड़ने लगती हैं, उसकी इच्छा होती है एवं उन्हीं से खेलना भी वह आरंभ कर देता है। प्रथम सौन्दर्यबोध उसका यही है। और, कुछ काल अनन्तर उसके मुँह से प्रश्नों की झड़ी-सी लग जाती है। यह क्या है, यह ऐसा क्यों है, ऐसा हो कैसे जाता है?—इत्यादि प्रश्नों से माता-पिता को वह आजिज किये देता है। यही उसकी सत्य-सधान की चेष्टा है।

व्यक्तिगत जीवन के इस व्यापार ही में विश्व-मानव के इतिहास की झलक है। आदिम काल से लेकर आज तक मनुष्य की सारी चेष्टायें इन्हीं तीन की उपलब्धि के लिये हुई और होती हैं। साहित्य भी इसी के फलस्वरूप सृष्ट हुआ, एवं साहित्य के एक प्रधान अंग कहानी में भी हम मानव-हृदय की इसी चेष्टा का प्रतिबिंब देखते हैं—इसीका आभास पाते हैं। तब, बात यह है कि कहानी का वर्त्तमान स्वरूप बहुत बदला हुआ है। तब और अब की कहानी में आसमान-जमीन का अन्तर है। यदि सच पूछा जाय तो कहानी का जो आधुनिक रूप दृष्टिगोचर होता है, उसके नियंत्रणकर्ता पाश्चात्य साहित्यिकगण

ही मालूम होते हैं। यानी, कहानी की इस आशातीत प्रगति एवं सफलता का श्रेय प्रायः पाश्चात्य साहित्यिकों को ही है।

हिन्दी की सबसे पहली कहानी 'रानी केतकी की कहानी' है। सन् १८०३ ई० इसका रचनाकाल माना गया है। इसके लेखक थे सैयद इंशाअल्लाह खाँ। इसकी मौलिकता और सुन्दर भाषा ने लोगों की रुचि को बहुत कुछ आकृष्ट किया। इसी समय मुंशी सदासुख ने भी एक मौलिक कहानी की रचना की; परन्तु समुचित सफलता न मिली—प्रयास विफल रहा। इसीलिये राजा शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना' ही द्वितीय मौलिक कहानी मानी जाती है। परन्तु, इसके साथ ही साथ अनुवाद का जोर तो रहा ही। यह कोई बुरी बात नहीं। इस लेन-देन की सभी भाषाओं में धूम रही है, एवं साहित्य के भाण्डार को विशाल बनाने में इस व्यापार का पर्याप्त हाथ रहा है।

सन् १९०० ई० में 'सरस्वती' की वीणा बज उठी। अपूर्व आशीर्वाद-स्वरूप इसने कथा-साहित्य का अनुराग लोगों के हृदय में भर दिया। हिन्दी-साहित्य की सुषमा में कहानियों ने सुन्दर निखार-सा ला दिया। कथा-साहित्य की इस उन्नत अवस्था का श्रेय बहुत अंशों में 'सरस्वती' को ही है। कहानी के आधुनिक स्वरूप का प्रथम दर्शन इसी ने कराया था। पं० किशोरी लालजी गोस्वामी, 'पार्वती-नन्दन' (गिरिजा कुमार घोष) और श्रीमती (बंग-महिला) ने उत्तम कहानियाँ लिखीं। स्वामी सत्यदेव उन दिनों अमेरिका से इसमें बराबर

कहानियाँ लिखा करते थे। चूँकि यह मौलिक कहानियों का आदिकाल था, अतः अनुवाद ही अधिकता से किये गये।

इन्हीं दिनों हिन्दी-साहित्य-गगन को समुद्भासित करते हुए काशी से 'इन्दु' का उदय हुआ। मौलिक कहानियों की अभि-वृद्धि में इसने पूरी सहायता पहुँचायी। मौलिक कथा-साहित्य के विकास के इतिहास में 'इन्दु' की कीर्त्ति समुज्ज्वल है। बाबू जयशंकर प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' को आलोक मे लाने का गौरव इसीको प्राप्त है। पं० विश्वंभरनाथ जिज्जा की सुप्रसिद्ध कहानी 'परदेशी' इसी मे छपी थी। इसके उपरान्त इसमे प्रायः मौलिक कहानियाँ ही प्रकाशित होती रहीं, जिससे हिन्दी में कहानियों की संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। इसी के सराहनीय उद्योग और प्रोत्साहन से कई कहानी-लेखक इस क्षेत्र में आ उतरे। लेखकों का ध्यान इस कमी की पूर्ति करने की ओर आकृष्ट हुआ, एव मौलिक कहानियों से हिन्दी-साहित्य का सौभाग्य-सितारा बुलन्द होने लगा।

तदनन्तर 'शङ्कर' का आगमन हुआ। सन् १९१३ ई० में पं० विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक ने लिखने का श्रीगणेश किया। इनकी पहली कहानी थी 'रक्षा-बंधन'। राजा राधिकारमण सिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने भी एक-दो कहानियाँ लिखीं। तदुपरांत सन् १९१४ ई० में 'सरस्वती' द्वारा प० ज्वालादत्त शर्मा ने कहानी-लेखन-कुशलता का परिचय दिया।

और, तब 'अदीब' और 'जमाने' से बाहर हुए प्रेमचन्दजी।

उनकी सात उर्दू-कहानियाँ 'सप्त-सरोज' के नाम से हिन्दी-साहित्य-सरोवर में विहँसीं। सुवास और स्वरूप की मधुरता से लट्टू होकर लोग भौंरों की तरह उनपर टूट पड़े।

सन् १९१६–१७ ई० में 'कथा-मुखी', 'शारदा-विनोद' और 'हिन्दी-गल्पमाला' आदि पत्रिकाओं का साहित्य-संसार में प्रादुर्भाव हुआ था। 'कथा-मुखी' उन सबों में अधिक उन्नत थी। उसमें निकली हुई कहानियों का एक संग्रह भी श्रीयुत व्रजराज एम० एस०-सी द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कहानियों की आशातीत उन्नति भी हुई पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से। अब तो यह साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग-सी हो गयी है और धड़ल्ले से इसकी उन्नति भी होती जा रही है। हंस, माया, मुसाफिर, कहानी, नयी कहानियाँ, रसीली कहानियाँ, रानी आदि कहानियों के सर्व-श्रेष्ठ मासिक हैं। इनके अलावे सरस्वती, चाँद, विशाल भारत, विश्वमित्र, गंगा, भारती, वीणा आदि प्रमुख मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः ही सुलेखकों की सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ प्रकाशित की जाती हैं। पाक्षिक, साप्ताहिक तथा दैनिक पत्रों में भी इसके लिये खास स्तंभ रहते हैं।

आज हिन्दी-गगन में कहानीकारों की दिव्य ज्योति फैल गयी है। हिन्दी ने ऐसे-ऐसे लेखक पैदा किये हैं, जिनकी रचनाएँ विश्व-साहित्य में स्थान पाने योग्य हैं। प्रेमचन्दजी की कहानियों का अनुवाद गुजराती, मराठी, बँगला आदि भाषाओं

में तो प्रकाशित हुआ ही है, साथ ही साथ अंग्रेजी और जापानी भाषाओं में भी उनका अनुवाद हुआ है। इस तरह हिन्दी-साहित्य के गौरव की अभिवृद्धि हो रही है।

कुछ विद्वान् हिन्दी की वर्त्तमान कहानियों को चार-स्कूल या चार शैलियों में विभाजित करते हैं। यथा—प्रेमचन्द-स्कूल, प्रसाद-स्कूल, उग्र-स्कूल और अनुवाद-स्कूल। किन्तु, सच पूछिये तो स्कूल आदि का विभाजन होना ही न चाहिये ; क्योंकि शैली ही एक चीज है, जिसमें लेखक की निजी शक्ति और प्रतिभा विकसित होती है। वह किसी दूसरे से मिल ही नहीं सकती। इस प्रकार जितने कहानी-लेखक हैं, प्रत्येक में कुछ न कुछ खासियत होती ही है, जो लाख करने पर भी दूसरे से मेल नहीं खा सकती। इसलिये प्रत्येक का अपना-अपना स्कूल हो जाता है। यदि किसी हालत में यह सम्भव भी हो, तो अनुवाद का स्कूल तो अलग नहीं ही मानना चाहिये। अनुवाद टके सेरवाली कहानियों का हम करें ही क्यों ? उत्कृष्ट कहानियों का ही अनुवाद या तर्जुमा किया जाय, जो विश्व-साहित्य की अक्षय सम्पत्ति है। इस कारण से अनुवाद ही उच्च कोटि की कहानियाँ होंगी। खैर, यह लेकर यहाँ विवाद बढ़ाने का प्रयोजन नहीं। श्रेष्ठता ही का विचार किया जाय, स्कूल कोई हो।

श्रेष्ठता के लिये हम लोक-रुचि को ही सामने रक्खेंगे ; क्योंकि सबसे बड़े समालोचक पाठक ही होते हैं। खासकर कहानी के लिये उनके मत के विरुद्ध चलना हमारी समझ से

बड़ी भारी भूल है ; इसलिये कि कहानी जन-साधारण की वस्तु है, और आनन्द देना ही इसका उद्देश्य है। कला की परख उसके पारखी किया करें, वे तो कहानी को कहानी ही देखना चाहते हैं। अतएव, यह देखना है कि किसकी कहानियाँ अधिक सरल और सचमुच कहानी होती हैं।

इस तरह देखा जाता है कि स्वर्गीय प्रेमचन्द ही कहानी-लेखकों में सबसे अधिक प्रिय हैं। आप पहले उर्दू के लेखक रहे थे, और हिंदी के क्षेत्र में उतर आने पर भी उर्दू में लिखने से विरत न हुए थे। इसलिये हिन्दी और उर्दू के सम्मिश्रण से इनकी भाषा सरल, सुन्दर, चुस्त और हृदयग्राही थी। किसी भी बात को ऐसी चुटीली कर दे सकते थे कि कलेजे पर बैठ जाती। जटिलता और दुर्बोधता की कतई गुञ्जाइश नहीं रहती। थोड़ा पढ़ा-लिखा आदमी भी मजे में उनके कहने के आशय को भली भाँति समझ जाय, सचमुच कहानी के लिये ऐसी ही भाषा उपयोगी कही जा सकती है। ऐसी मुहावरेदार और सरल-सुन्दर भाषा हिन्दी में और किसी दूसरे की नहीं देखी जाती। प्रेमचन्द की भाषा में हिन्दी और उर्दू दोनों ही के शब्द मिले रहते हैं; इसलिये वह बहुत ही चलती हुई होती है। ये न तो उसे सजाने के लिये कभी किसी प्रकार की कृत्रिमता से काम लेते हैं, न उसके प्रवाह पर किसी प्रकार का अस्वाभाविक नियन्त्रण ही रखते हैं। लोग आपस में साधारणतः जिस ढंग से बातचीत करते हैं, वही ढंग इनके लिखने का है।

चरित्र-चित्रण में इन्हें ग्रामीणों के जीवन का चित्र उपस्थित करने में गजब की सफलता हासिल थी। ऐसा सच्चा और भावपूर्ण चित्र ये उपस्थित करते थे, जो किसी भी साहित्य के लिये गौरव की वस्तु कही जा सकती है। इनके हृदय से ये जितने परिचित मालूम पड़ते हैं, उतना ज्ञान दूसरे लेखकों के लिये कदाचित् दुर्लभ है। मानसिक भावों का घात-प्रतिघात, चरित्र के उत्थान और पतन का विकास ये बहुत ही स्वाभाविक रूप से दिखाते थे। 'बड़े घर की बेटी', 'रानी सारंधा', 'फातिहा' 'इद्‌गाह', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'दिल की रानी', 'बेटोंवाली विधवा' आदि कहानियाँ इनकी प्रतिभा का श्रेष्ठ निदर्शन हैं। हकीकत में इनकी जो कोई भी कहानी ली जाय, उसी में जादू का-सा असर पाया जाता है।

किन्तु, आपकी एक-आध बातें अखरती हैं। किसी स्त्री-चरित्र का पतन दिखलाना किसी भी अवस्था में आपको गवारा नहीं। इस कारण से कभी-कभी यह अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है।

खटकनेवाला दूसरा विषय है—हिन्दू-मुसलमानों में धर-बाँधकर एकता स्थापित करना—कहीं-कहीं यह साधन अच्छा अवश्य लगता है; किन्तु इसकी बहुलता के कारण अब जी ऊब-सा जाता है। क्योंकि यह उनकी एक विशेषता-सी हो गयी। इसीलिये कुछ साहित्यिक उनके विरुद्ध आवाजें भी कसने लगे थे कि उर्दू के विद्वान् होने के कारण हिन्दी से उनका नाता जोड़ना इच्छा के खिलाफ है।

तीसरी बात यह कि बीच-बीच में अपने किसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिये आप उपदेशक बन जाते। इस विषय में आपकी राय ही अलग है कि जिसमें कोई उद्देश्य न हो, जिससे शिक्षा न मिले, वह कहानी ही क्या? लेकिन, इसे उनकी विशेषता कहकर उड़ा देना उचित नहीं प्रतीत होता। कहानी में कोई उद्देश्य नहीं रहता, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ। आनन्द-प्रदान करना ही तो कहानी का उद्देश्य है। जबरन उसमें शिक्षा घुसेड़ना बेजा है। हॉ, यदि आ जाय, तो उतनी क्षति नहीं। लिख मारो, पाठक कुछ न कुछ उससे ग्रहण करेंगे ही। क्योंकि जहॉ कला है, वहाँ सीखने का कुछ न कुछ है ही।

प्रेमचन्द आदर्शवादी (Idealist) और प्रत्यक्षवादी (Realist) दोनों ही हैं। वास्तव में ऐसा होना अच्छा है; क्योंकि यथार्थवाद को छोड़कर कहानी में स्वाभाविकता और सजीवता नहीं लायी जा सकती। परन्तु यह भी बेठीक नहीं कि आदर्शवाद का भी विरोध न किया जाय। जहॉ कुशलता से दोनों का निर्वाह किया जाता है, वहीं लेखक की सफलता और कला की सार्थकता है। प्रेमचन्दजी ने इसको अच्छा निभाया है। चरित्र के उत्थान-पतन आपने बहुत सुन्दर दिखाये हैं; कहीं भी खुली अश्लीलता नहीं आयी है।

आपने लगभग ढाई-तीन सौ कहानियाँ लिखीं, जिनके कई संग्रह निकल चुके हैं। सप्त-सरोज, प्रेम-पचीसी, प्रेम-तीर्थ, प्रेम-प्रमोद, प्रेम-प्रतिभा, नव-निधि, प्रेम-पूर्णिमा, प्रेम-कुंज, सप्त-

सुमन, पाँच-फूल, मानसरोवर (दो भाग) इनमें मुख्य हैं।

'कफन' उनकी शेष रचना है, और इस संग्रह की 'कफन' कहानी इतनी जोरदार है कि किसी भी साहित्य में ऐसी कहानी बहुत कम मिलती है।

इनके बाद ही सुदर्शनजी का स्थान है। आपकी भी भाषा टकसाली और रोचक होती है। आप भी पहले उर्दू मे लिखा करते थे। इसलिये भाषा हिन्दी-उर्दू मिश्रित चुस्त होती है, और वाक्य ऐसे भावमय होते हैं कि जिगर में चुभ जाते हैं। शैली आपकी सुन्दर है; पर आप प्रेमचन्दजी-जैसे उपदेशक नहीं बन बैठते। सामाजिक कहानियाँ आप सुन्दर लिख सकते हैं। पात्र आप सजीव-से उपस्थित करते हैं।

'अंधेर', 'एक स्त्री की डायरी' आदि कहानियों में आपको प्रतिभा का खासा परिचय मिलता है। यद्यपि आपकी कहानियों में अंग्रेजी की छाप रहती है; परन्तु कहीं भी मौलिकता का अभाव नहीं पाया जाता। 'सुदर्शन-सुधा', 'तीर्थयात्रा', 'सुप्रभात', 'पनघट', 'प्रमोद' आपकी कहानियों के सुन्दर संग्रह हैं। दुःख है कि हिन्दी-संसार ने इस प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार की यथेष्ट कदर न की और साहित्य के इस उपासक को खो दिया।

शैली के विचार से पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' तथा आचार्य चतुरसेनजी शास्त्री का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु, यथार्थवाद के चक्कर में आकर इन दोनों कलाकारों का स्थान कुछ खिसक गया।

'उग्र' जी ने अपनी शैली में सबों को पराजित किया।

भावात्मक शैली होती है आपकी; किन्तु सुन्दर भाषा, भाव-व्यंजना, मौलिकता आदि में ये बे-जोड़ हैं। राजनीतिक कहानी लिखने का श्रीगणेश आपने ही किया। आप पूरे यथार्थवादी हैं। इसीलिये आदर्शवाद की उपेक्षा कर यथावत् चित्रण करने में, चाहे चित्रण श्लीलता की सीमा पार ही क्यों न कर जाय, आप कुंठित नहीं होते। किन्तु ऐसा होना अनुचित है। 'यथार्थवाद' प्रकरण में इसपर विशेष प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ उसकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। हाँ, आपकी प्रतिभा प्रखर है। शुरू शुरू इनकी कहानियों का संग्रह 'चिनगारियाँ' निकली, और कहानी-संसार में आग-सी लगा दी। 'इन्द्रधनुष' और 'निर्लज्ज' भी आपकी कहानियों के संग्रह हैं।

शैली में आसमान-जमीन का अन्तर होने पर भी आचार्य चतुरसेन शास्त्री 'उग्र' के अनुयायी हैं। आप भी बहुत पहले से कहानियाँ लिख रहे हैं। भाषा-शैली में आपका मुकाबिला कोई नहीं कर सकता। ऐतिहासिक कहानियों में आपको कमाल हासिल है। वर्णन में आप अपना सानी नहीं रखते। 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरे सजनी', 'पानवाली' आदि कहानियाँ बहुत ही सुन्दर हैं। पहली तो शायद हिन्दी में बेजोड़ है। आपकी कहानियों के कई सुन्दर संग्रह निकल चुके हैं। 'रजकण' बहुत ही सुन्दर है।

पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' गार्हस्थ्य जीवन के सुन्दर चित्र अंकित कर सकते हैं। आपकी भाषा मँजी हुई होती

है। उर्दू का बीच-बीच में अच्छा पुट रहता है; फिर भी सुदर्शन और प्रेमचन्द से भाषा-शैली में आकाश-पाताल का फर्क है। आपकी 'ताई' कहानी काफी प्रसिद्धि पा चुकी है। 'चित्रशाला', 'गल्प-मन्दिर' और 'प्रेम-प्रतिमा' के नाम से आपकी सुन्दर कहानियों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

पं० ज्वालादत्त शर्मा भी बहुत पहले से कहानी लिखते रहे; लेकिन पीछे उन्होंने ऐसी चुप्पी साधी कि गुरू गुड़ ही रहे और चेला चीनी हो गया! आपके पीछे के लेखक आप से बहुत आगे निकल गये। आपने कुल १०-१५ मौलिक कहानियाँ लिखीं, जिनमें प्रसिद्ध कहानी 'भाग्य का चक्र' बहुत अच्छी है। समाज का चित्र खींचने और उसमें करुण रस की अभिव्यक्ति करने में आप बड़े कुशल हैं।

पण्डित शिवनारायणजी द्विवेदी 'हिन्दी-समाचार' के संपादक और कहानी-लेखक थे। आपने कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी थीं, जिनमें 'खानसामा' और 'नाटक' शीर्षक कहानियाँ बहुत ही सुन्दर हैं।

बाबू जयशंकर 'प्रसाद' का कहानी-लेखकों में प्रमुख स्थान है। परन्तु आपकी कहानियों में कहानी की नहीं, कविता की मादकता है। आपकी कहानियों में कल्पना की उड़ान एवं कविता का माधुर्य है। मौलिकता का अभाव नहीं रहता अवश्य; किन्तु मनोवृत्तियों की व्यंजना इस सूक्ष्मता से आप करते हैं कि सहज ही समझ नहीं पड़ता।

भाषा भी आपकी विचित्र होती है। चलती भाषा का प्रयोग आपको पसंद नहीं। इस कारण ही चरित्र में भी कहीं-कहीं सजीवता नहीं रहती और स्वाभाविकता का भी अतिक्रम हो जाता है।

अलौकिक सौंदर्य की सृष्टि करने में सर्वदा आप तत्पर पाये जाते हैं। 'स्वर्ग के खँड़हर' में सचमुच स्वर्ग उपस्थित करने की चेष्टा में आपने कल्पना को बे-लगाम छोड़ दिया है। 'गुण्डा', 'पुरस्कार', 'आकाशदीप' 'आँधी', आदि कहानियाँ सुन्दर हैं। 'आकाश-दीप', 'आँधी' आदि आपकी कहानियों के संग्रह हैं।

राय कृष्णदास की कहानियाँ भी भावुकता-प्रधान होती हैं। भाषा मधुरतापूर्ण है। आपकी कहानियों के संग्रह का नाम है 'अनाख्या'।

पण्डित विनोद शंकर व्यास की भी शैली इन्हीं दोनों से मिलती-जुलती है। इनकी कहानियाँ हद की छोटी होती हैं, और उनमें एक अजूबा उडान रहती है। इनकी कहानियों में भी 'छायावाद' की ही छाप दिखायी देती है। भाषा simple और direct, है तथा मधुर भी। मगर वक्तव्य विषय क्या है और कहाँ जाकर गिरा, पता नहीं चलता। इसलिये सबों के योग्य इनकी कहानी नहीं। इनकी कहानियों के संग्रह के नाम हैं— 'तूलिका', 'भूली बात', 'नव पल्लव' और 'उसकी कहानी'।

कहानी में करुण रस की अभिव्यक्ति में सर्वोत्तम स्थान है पण्डित जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' का। आपके भाव जितने मार्मिक होते हैं, भाषा भी उतनी ही मधुर और मँजी हुई होती

है। आप एक भावुक कवि हैं ; किन्तु साहित्य में कहानी ही के लिये आपका गौरवपूर्ण स्थान है। 'किसलय', 'मालिका', 'मृदुदल' तथा 'मधुमयी' नाम से आपकी कहानियों के संग्रह निकल चुके हैं।

श्री जैनेन्द्रकुमार ने हिंदी-कहानी-क्षेत्र में इन दिनों अपना एक खास स्थान बना लिया है। अक्सर पत्र-पत्रिकाओं में आपकी कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। हिंदी के आज के कहानी-लेखकों में आपका स्थान अन्यतम है, और उनके हिमायतियों में कई का तो यह दावा है कि मुंशी प्रेमचंद के बाद इस क्षेत्र में जो स्थान खाली पड़ा, उसके हकदार जैनेंद्र जी ही हैं।

जैनेन्द्रजी ने साहित्य की दुनिया में चलने की अपनी खास लीक निकाली है, इसमें संदेह नहीं। आधुनिक सभ्यता ने भारतीय मस्तिष्क पर जो विदेशी प्रभाव डाला है और विषय निर्धारण का जो पाश्चात्य मापदंड सब ओर से अपनाया गया है, जैनेंद्रकुमार की साहित्य सृष्टि को नियंत्रण मिलता है इसी दृष्टिकोण से। जैनेंद्रकुमार आदर्शवादी जरूर नहीं, मगर कहानियों मे अपने दार्शनिक ज्ञान के बारीक विश्लेषण का लोभ नहीं छोड़ सकते, और उनका यही मोह उनकी कहानियों का गला घोंट देता है। दर्शन-ज्ञान की इस माया ने उनपर ऐसा जादू डाला है कि उनकी हर कहानी कहानी के बजाय ऋषि के ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश हो पड़ती है, दुरूह हो उठती है उनकी शैली, और विचित्र हो उठती है उनकी भाषा। अगर ऐसा न होता, तो जैनेन्द्र से और भी अधिक उम्मीद थी हमें।

'वातायन' 'स्पर्द्धा', 'फाँसी' आदि आपकी कहानियों सुंदर संग्रह हैं।

मुंशी जहूर बख्श की कहानियाँ भी रोचक और सरल होती हैं। 'समाज की चिनगारियाँ', 'स्फुलिंग' आदि उनकी सुन्दर कहानियों के संग्रह हैं।

डाक्टर धनीराम 'प्रेम' की कहानियाँ भी सुन्दर होती हैं; परन्तु बड़ी लम्बी। भाषा में माधुर्य का कुछ-कुछ अभाव रहता है। इनकी 'डोरा' शीर्षक कहानी पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुकी है। विशेषतः इनकी कहानियाँ विदेशी विषय और ढंग की होती हैं। 'वल्लरी' इनकी कहानियों का संग्रह है।

हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी भी बहुत अच्छी कहानियाँ लिखते हैं। एक आध संग्रह भी निकल चुके हैं। 'झलमला' आपकी सुन्दर कहानियों का संग्रह है।

बाबू शिवपूजन सहाय ने शुरू में कुछ बेजोड़ कहानियाँ हिंदी में लिखीं। आपकी शैली का सारा हिंदी संसार लोहा मानता है। दुःख है कि परिस्थितियों ने आपकी अभूतपूर्व प्रतिभा को मधुर-फल पाने का विशेष अवसर नहीं दिया। अब आपकी बहुत कम चीजें देखने को मिलती हैं।

श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन की कुछ बहुत ही अच्छी कहानियाँ हिंदी में आयी हैं। समयाभाव से अभी आप बहुत कम लिख सके हैं। किंतु जो कुछ भी लिखा है, वह बहुत

ही महत्वपूर्ण और सुंदर है। कहानी की आपकी शैली अन्यतम है। प्रभाकर माचवे ने भी इस ओर कदम रखा है। आप पर जैनेंद्र का पूरा प्रभाव है और इसीलिये कहानियां रोचक न होकर जटिल होती हैं।

श्री॰भगवती प्रसाद वाजपेयी और पं॰ प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' जमाने से कहानियाँ लिख रहे हैं और दोनों ही कहानी-कारों ने हिंदी कहानियों की प्रगति में काफी सहायता दी है। वाजपेयीजी की कहानियाँ सामाजिक होती हैं। उनकी निरीक्षण शक्ति तीव्र है, और अभिव्यक्ति सरल, किंतु मर्मस्पर्शी होती है। ऐसे भी विषयों को उन्होंने पाठकों की सहानुभूति दिलायी है, जिनपर बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है। आपकी शैली सुंदर है। चित्रण आप खूब स्वाभाविक करते हैं। मुक्तजी की देन भी इस ओर कुछ कम नहीं। आपने हिंदी को बहुत-सी अच्छी कहानियाँ दीं। आपकी कहानियाँ भी ज्यादातर सामाजिक होती है। भाषा बड़ी मँजी हुई और विषय हृदयग्राही होते हैं। दोनों ही कलाकार अभी साहित्य को बहुत कुछ देंगे। 'दो दिन की दुनिया', 'जलधारा' आदि 'मुक्त' जी की कहानियों के संग्रह हैं।

'हृदयेश' जी के स्वर्गवासी हो जाने से हिन्दी को बड़ी क्षति पहुँची; लेकिन आपकी कहानियों में आवश्यकता से अधिक सजावट होने से रोचकता का अभाव पाया जाता है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का नाम भी इस ओर नहीं भुलाया जा सकता। मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण, मौलिकता,

भाषा का परिपाक और भावों की गहराई आपकी कहानियों की विशेषतायें हैं। 'कानन' आपकी कहानियों का सुन्दर सग्रह है।

इनके अलावे श्रीनाथ सिह, पण्डित मोहनलाल महतो 'वियोगी', यशपाल, पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह, श्रीलक्ष्मीनारायण सिह 'सुधांशु', वाचस्पति पाठक, प० हंसकुमार तिवारी, पहाड़ी, श्री आरसी प्रसाद सिंह, वीरेश्वर सिंह, श्री राधाकृष्ण प्रसाद आदि भी अच्छी कहानियाँ लिखते हैं। समयाभाव से इन सबों की रचनाएँ कम हैं। परन्तु जो कुछ भी 'पत्र-पुष्प' इन्होंने दिया है, हिन्दी के भांडार के रत्न ही हैं।

सौभाग्य से महिलायें भी अब इस क्षेत्र में आ उतरी हैं। श्रीमती शिवरानी देवीजी बहुत सुन्दर कहानियाँ लिखती हैं। 'नारी हृदय' इनकी कहानियों का संग्रह है। सुप्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने भी कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। 'बिखरे मोती' के नाम से इनकी कहानियों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। श्रीमती तेजरानी पाठक ने भी कहानी लिखने में सुख्याति अर्जन की है। 'अञ्जलि' आपकी कहानियों का संग्रह है। शिवरानी देवीजी लगातार लिखती जा रही हैं; मगर श्रीमती पाठक और चौहान की लेखनी आराम कर रही हैं।

इन दिनों श्रीमती उषादेवी मित्रा खूब लिख रही हैं। आपकी भाषा संस्कृतमयी और जरा भारी पड़ती है। शैली में शब्दजाल

की सृष्टि से सजीवता का अभाव रहता और वह कृत्रिम-सी हो जाती है। बहुत अधिक लिखने के कारण कहानियाँ कुछ छिछली भी होती हैं। फिर भी कुछ कहानियाँ आपकी काफी सुन्दर बन पड़ी हैं। श्रीमती सत्यवती मलिक बहुत कम लिखती हैं; किंतु जो लिखती हैं वही अच्छी चीज। 'दो फूल' इनकी कहानियों का सुंदर समह निकला है। होमवती देवी की कहानियाँ भी अच्छी होती हैं।

हास्य-कहानी का हिंदी में अभाव-सा है। जी० पी० श्रीवास्तव हिंदी में हास्य के बडे लोकप्रियं लेखक हैं। आपकी 'लंबी-दाढ़ी' काफी प्रसिद्धि पा चुकी है, किंतु आपका हास्य उतना शिष्ट नहीं होता। इससे अच्छी चीजें श्री परिपूर्णानंद वर्मा ने लिखी हैं। 'मेरी हजामत', 'कवि चच्चा' आदि आपकी सुंदर रचनाएँ हैं, जिनमें शिष्टता का खयाल रक्खा गया है। 'बेढब' बनारसी ने भी इस ओर अच्छी सफलता प्राप्त की है। बँगला के श्रीपरशुराम ने हास्य की जैसी ठोस चीजें लिखीं—(इनकी कितावे भेड़ियाधसान आदि हिंदी में भी अनुवादित हो चुकी हैं) श्री राधाकृष्ण ने उतनी ही अच्छी चीजें हिंदी को दीं। छोटी कहानियाँ भी आपकी बड़ी अच्छी होती हैं। शैली आपकी निराली है। इधर 'चगताई की कहानियाँ' भी हिंदी में बड़ी आदत हुई हैं। फिर भी हास्य के लिये अभी हिंदी में बहुत कुछ चाहिये।

अनुवाद कहानियों का भी हिंदी में इन दिनों खूब समावेश किया गया है। विभिन्न प्रांतीय भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं

की अच्छी-अच्छी कहानियाँ हिंदी में आ रही हैं। यह एक आवश्यक बात है। अनुवाद-साहित्य से किसी भी साहित्य को लाभ होता है। हम इसे जरूरी मानते हैं।

ऋषभचरण जैन ने कुछ उत्तम कहानियों का अनुवाद किया। बँगला से धन्यकुमार जैन ने बहुतेरी कहानियाँ अनूदित कीं। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, रामचंद्र टंडन, परमेश्वर प्रसाद गुप्त आदि ने अनुवाद साहित्य की समृद्धि में काफी सहायता की।

संक्षेप मे हमने विकासक्रम का उल्लेख किया। यही पूर्ण है ऐसा हम नहीं कहते; यह तो एक रूप-रेखा भर तैयार की गयी। इतने थोड़े में इससे ज्यादा कुछ कहने की गुंजाइश भी तो नहीं हो सकती। आशा है, थोड़े ही दिनों में हिन्दी-कथा-साहित्य बहुत ही विशद् और उन्नत होगा, जिससे संसार के किसी भी साहित्य का मुकाबिला करने में वह पीछे न पड़ा रहेगा। ईश्वर हिन्दीमाता का मस्तक ऊँचा करे।